राज़नीति व

इंदु जैन · पुष्प धन्वा



सरस्वती विहार

मूल्य : 35 00 (पैंतीस रुपये)

प्रथम संस्करण : 1981

प्रकाशक
सरस्वती विहार
जी० टी० रोड, शाहदरा
दिल्ली-110032

ROZNAMCHA (Essays) by INDU JAIN PUSHPA DHANWA

'ममी' को
जिन्होने इन लेखो को सृजनशील पत्रकारिता कहकर
लिखते चले जाने की प्रेरणा दी।

अपनी बात

जब भी कोई लेखक-द्वय एक कृति का निर्माण करता है, यह कह पाना बहुत कठिन होता है कि किसने उसके किस अंग को सृजा। 'रोजनामचा' के साथ भी यही सच है। इसके लेखों में अनुसंधान से लेकर सामग्री की तरतीब, विधा-चयन व लेखन और तत्पश्चात् उस सबका परिष्कार—ऐसे अनेक पड़ाव थे, जिनपर हम दोनों साथ-साथ सहमते, स्वीकारते-अस्वीकारते, इस मंजिल तक पहुंचे हैं। इसके अंतिम रूप के लिए हम दोनों, पूरी तरह एक-से उत्तरदायी हैं।

टोक्यो,
जापान

—इन्दु जैन, पुष्प धन्वा

विषय-क्रम

रोजनामचा

खण्ड 1



समसामयिक

घाट पर मौन टकारता गान
नीले फैलाव में अकेला
सिद्धि की व्यर्थता लादे
महाकाय मानव
शरीर के पिंजड़े में फँसा रहता है
भूख का कठौता खुला रहता है
सिर पर शैतान उठाना
भरा बादल फिर
बिना बरसे गुजर जाना
इस इन्सानी दिन में धूप और शील टोको···

अश्लीलता : एक प्रश्न
सेंसर : समाधान ?

हमारी जागरण की अवस्था अधिकांश अतरग विचारों के सोने की अवस्था होती है। जब हम सो जाते हैं तभी वे सब आराम से हमारे भीतर अगडाई ले पाते हैं। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि रात को सेंसर (सतरी) सो जाता है और चेतन-अवचेतन के बीच का द्वार बे-रोकटोक पार किया जा सकता है। इसीलिए सब प्रकार के विचार पूर्ण स्वतन्त्रता से मन की हर तह पर विचरने लगते हैं।

रोम में ईसा से ४४३ वर्ष पूर्व दो मजिस्ट्रेट हुआ करते थे, जो 'सेंसर' कहलाते थे। प्रारभ में तो इनका काम जनगणना करना तथा इसका लेखा तैयार करना था कि किस नागरिक का राज्य के भीतर क्या कर्तव्य है किन्तु धीरे-धीरे वे समाज की नैतिकता के निर्णायक और रखवाले बन गए। आज की दुनिया तक पहुचते-पहुचते हमने इस रखवाले के कई बदलते रूप देखे हैं। इसने मार्टिन लूथर के क्रांतिकारी विचारों का दम घोटना चाहा, कवि बायरन को देश निकाला दिया, ऑस्कर वाइल्ड को कठघरे में खडा कर दिया और विश्व के हर बडे नगर की रगीन रातों को पुलिस की सीटियों से गुजाया। धर्म, राजनीति, प्रणय—सभी दिशाओं में चाबुक घुमाता यह कभी वाणी पर टूटता है, कभी अक्षर पर, कभी चित्र पर तो कभी चलचित्र पर। माइकेल स्कॉट को भारत से खदेड दिया गया, अग्रेज शासकों ने मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' को तराश दिया।

स्वतन्त्रता की सीमा के सदर्भ में एक देश से दूसरे देश में विषमता की मात्रा आश्चर्यचकित कर देने वाली है। एक ही आकाश के नीचे अमेरिकी मच पर नग्न-नृत्य होता है, इग्लैंड की युवा सुदरियां पारदर्शी कपडे पहनकर सडकों पर घूमती हैं और इधर भारत अभी अश्लील पोस्टर युद्ध में लगा है। इतनी विषमता क्यों ? कारण स्पष्ट है कि 'अश्लील' की एक सरल, सर्वमान्य, छोटी सी परिभाषा आज

तक नहीं बन पाई। भारतीय दंड-संहिता की धारा २९२ किसीको अश्लील तो झट् से करार कर जाती है किन्तु इस शब्द की व्याख्या उसमें नहीं की गई है। परिणामस्वरूप इस 'अपराध' का निर्णायक हर पुलिसमैन बन बैठा है और हर छोटी-से-छोटी अदालत का न्यायाधीश इस अस्पष्ट अपराध की सजा सुना सकता है।

अपराध-रूप में अश्लीलता का इतिहास देखने पर पता चलता है कि पहले इसे दंडित करना गिरजाघरों की ही सीमाओं में बंधा था। इन धार्मिक न्यायालयों का मापदंड आदम और हव्वा द्वारा किए गए प्रथम पाप पर आधारित था। यह बात दूसरी थी कि उनके धर्म-ग्रंथ में सबसे बुद्धिमान सम्राट् था सॉलोमन, जिसके उद्दाम प्रणय-गीत को 'गीतों का राजा' कहकर पुकारा गया था :

"मैं तुम्हें पिलाऊंगी मदिरा सुवासित,
अपने अनार का रंगीन रस,
बाया कर तेरा टिकाएगा शीश को मेरे,
दाहिना, अंक में समेटेगा मुझको।"

व्यावहारिक रूप से भारतीय न्यायालय इस संबंध में अंग्रेजों की दी परिभाषा पर ही चल रहा है। सन् १८६८ में पहली बार मुख्य न्यायाधीश कॉकबर्न ने १८५७ की लॉर्ड कैम्पबेल-धारा के अन्तर्गत बेंजमिन हिक्लिन द्वारा लिखित एक पैम्फलेट पर कानूनी प्रतिबंध लगाया, जिसमें कैथोलिक चर्च के कृत्यों की निन्दा की गई थी। उस समय कॉकबर्न ने अश्लीलता की जांच के विषय में कुछ शब्द कहे, जो आज तक मान्य हैं। उन्होंने कहा, "मेरे विचार में, जो कुछ भी अवयस्क मस्तिष्क को पतित व दूषित करने की क्षमता रखता है—अश्लील है।"

प्रतिबंध, समाज के गठन की नींव रहा है और समाज की प्रगति प्रतिबंध के टूटते जाने पर निर्भर रही है। किन्तु न तो मात्र प्रतिबंध समाज है और न ही हर प्रकार के प्रतिबंध को तोड़ना प्रगति का एकमात्र चिह्न। व्यक्ति हर क्षण स्वतन्त्र

सामने रखने के बाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की ज्यादा गुआइश नहीं रह जाती है। विद्यापति पदावली के प्रणय-प्रसंग किसीको यदि कामुकता की ओर झुकाते हैं तो क्या उनका संगीत, माधुर्य और सौंदर्य दूसरे को भक्ति और कविता की ओर प्रेरित भी नहीं करते? जो एक के लिए दवा है, वही दूसरे के लिए दर्द। सब 'दसेद' को पढ़कर विकृत नहीं हो जाते और जिसमें इस भावना के अंकुर हैं, वे उसे पढ़ने के बाद जरूर फूटेंगे—इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता। जो स्वस्थ है, वह अपनी रक्षा स्वयं कर सकता है। जो अस्वस्थ है, उसके लिए रोग की रोक-थाम आवश्यक है। उपचार निकाला गया—प्रतिबंध।

हिक्लिन टैस्ट

हम मान लेते हैं कि सम्पूर्ण समाज को स्वस्थ बनाए रखने के लिए कुछ का उत्सर्ग देना ही होगा। मान लिया कि कला, सुंदरता, व्यक्तित्व सबको सामूहिक भलाई की भेंट चढ़ा दें। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि यह कैसे तय होगा कि क्या पाप है, क्या पुण्य? क्या ग्रहणीय है, क्या त्याज्य? क्या श्लील है, क्या अश्लील? ब्रिटेन हिक्लिन टैस्ट' को मानता है, अमेरिका उसे अस्वीकारता है। उसका कहना है कि ये वाणी और प्रेस दोनों की स्वतन्त्रता म अवैधानिक रूप से बाधक है। भारत मे इसी टैस्ट के आधार पर न्यायाधीश हिदायतुल्ला ने डी० एच० लॉरेंस की लेडी चैटरलीज लवर' को अश्लील घोषित किया। आश्चर्य की बात यह कि इस पुस्तक पर से अमेरिका और इग्लैंड मे अश्लीलत्व का दोष हटा लिया गया और काम-सूत्र के रचयिता वात्स्यायन के देश मे, जहां मिथुन-रत मूर्तियों से सुसज्जित मंदिरों की छाया म सारे दिन बच्चे खेलते हैं, इसपर प्रतिबंध लगा दिया गया। एक बात और। यह कहा तक ठीक है कि कोई भी एक व्यक्ति किसी कृति की साहित्यिकता और अश्लीलता को दो पलड़ो म रखकर तौल डाले? वह अपने परिवेश और परिस्थिति से बधकर ही निर्णय ले पाता है। वह निर्णय सर्वांगीण कैसे हो सकता है?

भारत म सेंसर फिल्म के क्षेत्र मे सबसे अधिक कार्यशील है। यहा भी इसका प्रारंभ रोकम की ही रोक थाम से हुआ। परिणामत मूक चलचित्रों मे स्वीकृत 'चुम्बन' बोलती फिल्मों मे उड़ा दिए गए। धीरे धीरे प्रणय-संबंधी बंधन इतने दृढ हो गए कि न फिल्म निर्माता उन्हें तोड़ते थे, और न ही सेंसर की कैंची हर क्षण उनपर रहती थी। अब सेंसर की दृष्टि राजनीति पर अधिक केन्द्रित हुई। सरकार की नीति धर्म निरपेक्षता की है तो सेंसर यह देखने मे व्यस्त है कि किसी जाति पर तो आंच नहीं आ रही? राज्यसभा, लोकसभा, मंत्रिगण, अन्तर्राष्ट्रीय समझौते, सरकार—सबपर कटाक्ष, व्यंग्य, हास्य वर्जित है। भारतीयफिल्म सेंसर ने १६१८ से आज तक विशेष परिवर्तनों की मंजिलें तय नहीं की हैं। पहला महत्त्वपूर्ण

तक नही बन पाई। भारतीय दड-सहिता की धारा २९२ किसीको अश्लील तो झट् से करार कर जाती है किन्तु इस शब्द की व्याख्या उसमे नही की गई है। परिणामस्वरूप इस 'अपराध' का निर्णायक हर पुलिसमैन बन बैठा है और हर छोटी से छोटी अदालत का न्यायाधीश इस अस्पष्ट अपराध की सजा सुना सकता है।

अपराध रूप मे अश्लीलता का इतिहास देखने पर पता चलता है कि पहले इसे दण्डित करना गिरजाघरो की ही सीमाओ म बधा था। इन धार्मिक न्यायालयो का मापदण्ड आदम और हव्वा द्वारा किए गए प्रथम पाँप पर आधारित था। यह बात दूसरी थी कि उनके धर्म-ग्रथ मे सबसे बुद्धिमान सम्राट् या सॉलोमन, जिसके उद्दाम प्रणय-गीत को 'गीतो का राजा' कहकर पुकारा गया था

' मैं तुम्हें पिलाऊगी मदिरा सुवासित,
अपने अनार का रगीन रस,
बाया कर तेरा टिकाएगा शीश को मेरे,
दाहिना, अक मे समेटेगा मुझको।"

व्यावहारिक रूप से भारतीय न्यायालय इस सबध मे अग्रेजो की दी परिभाषा पर ही चल रहा है। सन् १८६८ मे पहली बार मुख्य न्यायाधीश कॉकबर्न ने १८५७ की लॉर्ड कैम्पबेल-धारा के अन्तर्गत बेंजमिन हिक्लिन द्वारा लिखित एक पैम्फलेट पर कानूनी प्रतिबध लगाया, जिसमे कैथोलिक चर्च के कृत्यो की निन्दा की गई थी। उस समय कॉकबर्न ने अश्लीलता की जाच के विषय मे कुछ शब्द कहे, जो आज तक मान्य हैं। उन्होने कहा, "मेरे विचार मे, जो कुछ भी अवयस्क मस्तिष्क को पतित व दूषित करने की क्षमता रखता है—अश्लील है।"

प्रतिबध, समाज के गठन की नीव रहा है और समाज की प्रगति प्रतिबध के टूटते जाने पर निर्भर रही है। किन्तु न तो मात्र प्रतिबध समाज है और न ही हर प्रकार के प्रतिबध को तोड़ना प्रगति का एकमात्र चिह्न। व्यक्ति हर क्षण स्वतन्त्र होने के लिए सघर्ष करता है, सबधो की नई व्याख्या करता है और हर प्रकार अपने व्यक्तित्व की खोज व सतुष्टि के लिए सूत्र जोड़ता है। किन्तु किसी भी सबध की स्थिरता, सिर्फ स्थिरता ही नही, उसका कुल अस्तित्व ही प्रतिबधो पर आश्रित है। सभी मूल्य किसी न किसी तरह के स्वेच्छा से बाधे बधनो का परिणाम हैं। यदि तर्क को लबा खीचा जाए तो स्वतन्त्रता की खोज और घोषणा की आवश्यकता स्वय मे एक मानसिक प्रतिबध है।

सामान्यत 'सेंसर' शब्द म जिन आरोपित प्रतिबधो से तात्पर्य होता है, उनके पीछे मुख्य प्रेरणा रहती है—समाज की व्यवस्था। अनुत्तरदायी नागरिक के लिए यह सस्था एक एम कॉम्प्यूटर का काम करती है जिसकी सारी शक्तिया सामाजिक त्र पर केन्द्रित करके उसस एक समाधान मागा जा रहा है। इस उद्देश्य को

सामने रखने के बाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की ज्यादा गुजाइश नही रह जाती है। विद्यापति पदावली के प्रणय प्रसग किसीको यदि कामुकता की ओर झुकाते है तो क्या उनका सगीत, माधुर्य और सौंदर्य दूसरे को भक्ति और कविता की ओर प्रेरित भी नहीं करते ? जो एक के लिए दवा है, वही दूसरे के लिए दर्द। सब 'दसेद' को पढकर विकृत नही हो जाते और जिसमें इस भावना के अकुर हैं, वे उसे पढने के बाद जरूर फूटेंगे—इसमे भी इकार नही किया जा सकता। जो स्वस्थ है, वह अपनी रक्षा स्वय कर सकता है। जो अस्वस्थ है, उसके लिए रोग की रोक-थाम आवश्यक है। उपचार निकाला गया—प्रतिबध।

हिक्लिन टैस्ट

हम मान लेते है कि सम्पूर्ण समाज को स्वस्थ बनाए रखने के लिए कुछ का उत्सर्ग देना ही होगा। मान लिया कि कला, सुदरता, व्यक्तित्व सबको सामूहिक भलाई की भेंट चढा दें। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि यह कैसे तय होगा कि क्या पाप है, क्या पुण्य ? क्या ग्रहणीय है, क्या त्याज्य ? क्या श्लील है, क्या अश्लील ? ब्रिटेन 'हिक्लिन टैस्ट' को मानता है, अमेरिका उसे अस्वीकारता है। उसका कहना है कि ये वाणी और प्रेस दोनों की स्वतन्त्रता मे अवैधानिक रूप से बाधक है। भारत मे इसी टैस्ट के आधार पर न्यायाधीश हिदायतुल्ला ने डी० एच० लॉरेंस की 'लेडी चैटरलीज लवर' को अश्लील घोषित किया। आश्चर्य की बात यह कि इस पुस्तक पर से अमेरिका और इग्लैंड मे अश्लीलत्व का दोष हटा लिया गया और काम-सूत्र के रचयिता वात्स्यायन के देश मे, जहा मिथुन-रत मूर्तियो से सुसज्जित मदिरों की छाया मे सारे दिन बच्चे खेलते हैं, इसपर प्रतिबध लगा दिया गया। एक बात और। यह कहा तक ठीक है कि कोई भी एक व्यक्ति किसी कृति की साहित्यिकता और अश्लीलता को दो पलडो मे रखकर तौल डाले ? वह अपने परिवेश और परिस्थिति से बधकर ही निर्णय ले पाता है। वह निर्णय सर्वांगीण कैसे हो सकता है ?

भारत मे सेंसर फिल्म के क्षेत्र मे सबसे अधिक कार्यशील है। यहा भी इसका प्रारभ सेक्स की ही रोक-थाम से हुआ। परिणामत मूक चलचित्रों मे स्वीकृत 'चुम्बन' बोलती फिल्मो से उडा दिए गए। धीरे-धीरे प्रणय-सबधी बधन इतने दृढ हो गए कि न फिल्म-निर्माता उन्हें तोडते थे, और न ही सेंसर की कैंची हर क्षण उनपर रहती थी। अब सेंसर की दृष्टि राजनीति पर अधिक केन्द्रित हुई। सरकार की नीति धर्म-निरपेक्षता की है तो सेंसर यह देखने मे व्यस्त है कि किसी जाति पर तो आच नही आ रही ? राज्यसभा, लोकसभा, मत्रिगण, अन्तर्राष्ट्रीय समझौते, सरकार—सबपर कटाक्ष, व्यग्य, हास्य वर्जित है। भारतीय फिल्म सेंसर ने १९१८ से आज तक विशेष परिवर्तनो की मजिलें तय नही की हैं। पहला महत्वपूर्ण

परिवर्तन १६८६ में हुआ जब फिल्मों के दो वर्ग बनाए गए—'ए' और 'यू' (केवल वयस्कों के लिए तथा सर्वसामान्य के लिए)। आज के दिन इस बोर्ड के नौ सदस्य होते हैं और एक चेयरमैन इसका सचालन करता है। ये सदस्य लब्ध-प्रतिष्ठ नागरिक होते हैं और निःशुल्क कार्य करते हैं। सभवतः अपनी प्राथमिक व्यस्तताओं के कारण ही ये पूरा समय और ध्यान प्रतिबंध-कार्य को नहीं दे पाते।

आधुनिक चलचित्रों में चुम्बन तो नहीं हो सकता था, किन्तु और ऐसे सैकड़ों कामोत्तेजक इंगित और क्रियाएं क्षम्य माने गए जो नैसर्गिक अधर-मिलन से कहीं ज्यादा प्रभावोत्पादक और अधकचरे मन के लिए हानिकारक हैं। अभिनेत्री के उघड़े कंधे सेंसर की कैंची सजग कर होते हैं किन्तु 'फर्ज' जैसी फिल्मों की ओर से, जिसमें नायक-नायिका के हाव-भावों के संदर्भ में रति की विभिन्न मुद्राओं की चर्चा हर जबान पर आई —सेंसर लापरवाही से आंखें मूंद लेता है।

अक्सर विदेशी फिल्में भारत में प्रदर्शित करने से पहले उनमें से रूस, अमेरिका, मार्क्सवाद जैसे शब्द, अश्लील (?) वाक्यांश, अर्ध-नग्न दृश्य—बिना कलात्मकता का ध्यान रखे—छांट डाले जाते हैं। परिणाम होता है—दृश्य से दृश्य पर उछलती, प्रसंग व संदर्भहीन, मूल कृति की व्याकृति मात्र। क्या इससे यही अच्छा यह न होगा कि हम ईमानदारी से अपने को भीरु, जनता को अवयस्क और बौद्धिकों को उदासीन मान लें और इन 'आपत्तिजनक' फिल्मों का पूर्ण बहिष्कार कर दें? यदि 'बोनी एण्ड क्लाइड' जैसी फिल्म, जिसमें नृशंस युवा हत्यारों के प्रति सहानुभूति जागती है, आपत्तिजनक नहीं हैं तो अभिनेत्रियों के वास्तविक जीवन का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण करने वाली 'वैली आफ डॉल्स' पर सेंसर का इतना रोष क्यों?

सच तो यह है कि पचासी वर्षों से कला के क्षेत्र में इतनी स्वतन्त्रता नहीं ली गई थी जितनी मध्य-बीसवीं सदी में ली गई। सिने-संगीत, फैशन, विज्ञापन, साहित्य, चित्रकला सभी में खुलापन और साफगोई बढ़ रही है। कलाकार और साहित्यकार इस नई उन्मुक्तता का स्वागत करते हैं लेकिन भारत में अभी ऐसे वर्ग की ही प्रधानता है जो इससे क्षुब्ध और आतंकित है। पश्चिम में, द्वितीय विश्व-महायुद्ध ने सारे मान्य बंधनों को छिन्न-भिन्न कर दिया। भारत के बुद्धिजीवी भी इस हवा से अछूते नहीं रह सकते थे। यों हमारी परंपरा और नीतिप्रिय 'सेक्स' के विषय में पूर्ण प्रगतिवादी रहे हैं। 'ऋग्वेद' में कामार्त्त देव गुरु बृहस्पति अपने भाई की गर्भिणी पत्नी ममता पर बलात्कार करते हैं। वेद रचयिता ने उन्मुक्त और विशद् वर्णन किया है

"बृहस्पति!" गर्भस्थित भ्रूण ने बृहस्पति के शुक्रोत्सर्ग के समय कहा, "मैं यहां पूर्व से ही सम्भूत हूं।"

"बैठा रह," बृहस्पति ने उपेक्षापूर्वक कहा और वे साहस करने लगे। गर्भ का

प्रतिरोध बढ़ता गया। कामोत्तेजना मे ठेस लगती गई। रति-सुख मे बाधा पडती गई। अतृप्त वासना की प्रतिक्रिया प्रतिहिंसा म हुई।

आधुनिक युग मे, फिर से, रोने और गाने की तरह ही नैसर्गिक रूप से यौन को स्वीकार करने की बात उठाई गई है। रूढ़िवादी भी, चाहे पूरी तरह इस बात को न मानें, काफी हद तक सकीर्णता से स्वत हटते जा रहे हैं। प्रसिद्ध अमेरिकी वकील एफराइम लण्डन का कहना है, "फिल्मो और पुस्तको का नियन्त्रण अब सिर्फ अपनी रुचि का प्रश्न रह गया है। आज कोई भी ऐसी चीज नही रह गई जो यदि सुरुचिपूर्ण है तो दिखाई या बताई न जा सके। न्यायालय भी जब किसी वस्तु को अश्लील बताते हैं तो वे नैतिक मूल्य की बात नही कर रहे होते, वस्तु को सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टि से अस्वीकार रहे होते हैं।"

इसके अर्थ यह कि 'यौन' अश्लील नही है। तो क्या जहा यौन-विकृतिया हैं—अश्लीलत्व वहा है? फिर प्रश्न उठता है कि विकृति क्या है? ब्रिटेन मे सम-लिंग कामुकता यदि कानूनन स्वीकृत हो सकती है तो इस प्रश्न का सम्पूर्ण उत्तर देना बहुत कठिन हो जाता है। चाहे अरसे से निषिद्ध होने के कारण और चाहे फॉयड की भाषा म 'लिबिडो' होने के कारण—यौन, युवकों के लिए सबसे बडा आकर्षण का केन्द्र है। तभी चैकोस्लोवाकिया के रूस-विरोधी सुधारको पर यह आरोप लगाया गया कि उन्होने बाजार को अश्लील साहित्य से पाट दिया है ताकि वहा का युवक उस कीचड मे पैठ जाए और राजनीति की ओर से मुड जाए।

अर्नेस्ट हॉग के इस कथन मे काफी सत्य जान पडता है कि "अश्लीलता सर्वदा विकृत अश्लीलता तक पहुचाकर रहती है। अश्लीलता सभोग क्रिया को अवैयक्तिक और अमानुषिक बना देती है।" यह भावना किशोरावस्था मे अधिक आकर्षित करती है। वह समय अपने-आपमे मनुष्य के जीवन का सबसे कठिन समय होता है। उस डावाडोल स्थिति मे अश्लीलता से परिचय हो जाने से जीवन का स्वस्थ यथार्थ हाथ से बिल्कुल ही निकल जाता है। अश्लील रचनाओ का केवल एक उद्देश्य होता है—भडकाकर कृत्रिम यौन सतुष्टि देना। इसके विपरीत कला, कलात्मक अनुभव व अनुभूति की व्याख्या करती है और उसके महत्त्व को उद्भूत करती है।

इसान का दिमाग शैतान का घर है। उसपर पहरे तो बिठाए जाते हैं लेकिन शैतान भी अपने कारनामो मे नही चूकता। उसका सबसे कारगर हथियार है—तर्क। इसीलिए वह जब-तब कभी दूसरे के सामने सफाई पेश करने के लिए और कभी खुद अपराध-भावना से मुक्त होने के लिएनई व्याख्याए कर लेता है। ग्राहम ग्रीन के उपन्यास 'द मैन विदइन' मे एक वृद्ध का चित्रण है जो युवावस्था मे की गई अपनी धोखाधडी से सतप्त है। एक दिन अनायास वह बाइबल मे से उस बेईमान नौकर की कहानी सुनता है जो अपने मालिक के कर्जदारो के साथ

धोखा करके पैसा बनाता है और उसका मालिक उसे इस बुद्धिमत्ता पर बधाई देता है। कहानी सुनते ही इस वृद्ध की आत्मग्लानि दूर हो जाती है और इसे लगता है कि बाइबल म बेईमानी को पाप नही माना गया है। उसी दिन से वह बाइबल पढना बन्द कर देता है क्योकि अब उसे किसी सहारे की आवश्यकता नही रही है। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति अपनी पत्नी से शरीर का पेशा करवाए और कहे कि पाडवोने भी तो द्रौपदी कोजुए पर दाव पर लगाया था तो यह व्यक्ति को अपराध-भाव से गलत छुटकारा दिलाने वाली सुविधावादी व्याख्या भर होगी।

असल म अश्लीलता और नियत्रण दोनोही आवश्यक है और दोनो एक-दूसरे पर निर्भर है। अश्लीलता उसी तरह जीवन का आवश्यक अग है जैसे मनुष्य के भीतर क्रोध की भावना। भीतर के पशु का न तिरस्कार किया जा सकता है न उपेक्षा। लेकिन यह भी आवश्यक है कि पशु के लिए एक रास भी हमारे हाथ मे हो अन्यथा समाज और भी अधिक दरदरा, पैशाचिक भयभीत, असम्पृक्त, व्यक्तित्वहीन और भोगवादी हो जाएगा। मानवीय परिवेश बिल्कुल ही टूटकर बिखर जाएगा। अत स्वाधीनता और नियत्रण दोनो साथ-साथ रहने चाहिए।

समाज के प्रतिपल पिघलते, बदलते मूल्यो म हरएक परिभाषा कठिन होती जा रही है। समरसेट मॉम अपनी पुस्तक 'द मून एण्ड सिक्स पेंस' म एक ऐसे चित्र की चर्चा करते है जो चित्रकार द्वारा उसके डॉक्टर को भेंट किया गया। किन्तु डॉक्टर की पत्नी उसे बैठक मे टागने से कतई इनकार कर देती है, क्योकि 'वह अश्लील है'। वह उसकी नग्न, उत्तेजक रेखाओ और उघडे सहलाते रगो को सह नही पाती। क्या है वह चित्र ? महज एक फलो की टोकरी—केले, सतरे, और आमो की छोटी-सी ढेरी। यदि फलो का चित्र 'अश्लील' हो सकता है तो इस शब्द के अर्थों की थाह नही।

मिनी मोटरगाड़ी

बसों के लिए इन्तजार करती बेसब्र कतार, ऑफिस पहुचने के समय से आगे भागी जाती घड़ी, जेब म पड़े सिनेमा के हताश टिकट, शहर के गर्म, बदसूरत माहौल से कही दूर निकल जाने की आकाक्षा, टैक्सी और स्कूटर-चालको की दया के आगे फैला मानो अपना भिक्षा-पात्र और सबकी आखो मे एक ही सपना —दरवाजे से लगी एक प्यारी-सी छोटी मोटरकार। क्या इस जैट-युग मे अनगिनत आकर्षणो से खिचते मन के लिए यह सपना गलत है ? गलत क्या—मानसिक विलास तक नही है। अपनी सवारी, सुपर मार्केट की तरह आज की जिंदगी की जरूरत है।

इसान ने पानी पर चलना चाहा और जहाज बनाया, लम्बे रास्ते तेजी से तय करने चाहे और जमीन की छाती पर पटरिया बिछा दीं, परिन्दो की तरह उड़ने के लिए एल्युमिनियम के पख पसार दिए—ब्रह्माण्ड के सितारो की तरफ हाथ फैला दिया।'' फिर भी असख्य लघु-मानव एक नन्ही 'लघु मोटर-कार' के सपने देखते जनमते है और—और क्या—बस, सपने देखते ही रहते हैं। हम भारतवासी तो यों भी स्वप्नद्रष्टा और सन्तोषी जीव हैं। एक तरफ तो अमेरिका मे हर दो व्यक्ति पर एक गाडी का औसत है और दूसरी तरफ हम लगभग ६०० व्यक्ति प्रति गाडी पर सब्र किए बैठे हैं। लेकिन एक सुबह अखबारो ने एक खबर छापी जिसे पढ़कर हमारे सोए हुए सपने पख फड़फड़ाने लगे।

कार की भारी कीमत को ध्यान मे रखते हुए सरकार ने एक कम कीमत वाली जनता कार, बेबी कार, मिनी कार—जो नाम आपको पसन्द हो —बनाने का इरादा किया। १९४९ मे भारतीय कल-पुर्जे लगाकर देशी गाडी का निर्माण कर लेने से अपनी छोटी गाडी की सम्भावना भी बढ गई थी। लेकिन नन्ही चिड़िया की परवरिश ठीक न हो पाई। सुझावो की टकराहट, विदेशी मुद्रा का

अभाव और प्राथमिकता का प्रश्न—इन सदकी हरदडी मे उसके गले मे तो घट्टी भी न उतर सकी। वर्षों, कई बार जनता की आखो मे आशा की चमक आई और बुझ गई। तब यह सुनने मे आया कि 'चौथी पचवर्षीय योजना को आखिरी शक्ल' देने से पहले बेबी कार पर निर्णय ले लिया जाएगा। यो अन्तिम निर्णय लेने की बात किसी-न-किसी मन्त्री द्वारा लगभग दो दर्जन बार दोहराई जा चुकी है।

बेबी कार की कहानी हम दसको पीछे देखन को बाध्य करती है। इसकी लुकाछिपी भारतीय चलचित्रो के नायक-नायिका की आखमिचौनी से कम दिलचस्प नही। इसमे भी उम्मीद लगातार अपना पार्श्व-सगीत देती रही है। जनता से वायदा किया गया था कि पहली पचवर्षीय योजना की समाप्ति से पहले उनकी प्यारी गाडी भोली गाय की तरह, उनके आगन मे बधी होगी। लेकिन सितारो की गर्दिश कुछ ऐसी रही कि मिनी-योजना ने दूसरी सास वही जाकर द्वितीय पचवर्षीय योजना के दौरान ली जब सरकार ने इसके बारे म जाच पडताल के लिए झा कमेटी' की स्थापना की। १६६० म कमेटी का निर्णय आया 'यह गाडी बननी चाहिए।"

मसला बडा था और आप जानें, भला एक कमेटी की इतनी बिसात कहा कि उसका फैसला एकदम मजूर हो जाए! सो, 'झा-कमेटी' के सुझाव की छानबीन के लिए एक दूसरी कमेटी बिठाई गई—'पाडे-कमेटी'। लेकिन पाडे और झा तो भाई-बिरादर निकले। १६६१ म 'पाडे-कमेटी' न भी कहा कि कार जरूर बने और लागत उसपर आए ५,००० रुपये। कहावत भी है कि एक से दो भले। इन दोनो कमेटियो ने हरी झण्डी दिखाकर जनता की आशा-गाडी आगे बढाई।

निणय देना एक बात है और उसपर अमल करना दूसरी। चार साल और गुजर गए। फिर अचानक १६६५ म खबर मिली कि बेबी कार की गर्द-भरी फाइलो को फिर झाडा जा रहा है। कहा गया कि बेबी कार जरूर बन लेकिन पब्लिक सक्टर म। यह पता न लग सका कि जर्मनी, फ्रास, जापान, यूगोस्लाविया इत्यादि पचीस देशो के सहयोग-सुझावो का क्या हुआ? बुद्धिजीवियो के सामने इतना जरूर खुला कि चाल कुछ टेढी है, क्योकि पब्लिक सेक्टर का स्वाद जनता खूब चख चुकी है। एच० एम० टी० घडियो की मरम्मत के इन्तजार मे लगातार बढती कतार ही मिसाल के तौर पर ली जा सकती है। कुछ अथशास्त्रियो का अन्दाजा था कि पब्लिक सेक्टर मे अगर मिनी कार बनी भी तो उसकी कीमत आखीर में जाकर १२,००० से १४ ००० रुपये के बीच बैठेगी।

सरकार भी बेचारी क्या करे? वह खुद अपनी सरकार कहा है? लोकसभा म गूजें और अनुगूजें उठी। दश के तीनो गाडी निर्माताओ म खलबली मच गई। आखिर उनके रोष और असहयोग के आगे सरकार को हथियार डालने पडे। हर बार छोटी कार की योजना उठती और कोई न-कोई मुश्किल दीवार बनकर

खडी हो जाती। बरसो की कोशिश के बाद एक दीवार पार होती तो सामने नई तथा और ऊची दीवार तैयार मिलती। इनके अलावा फाइलो के न जाने कितने छोटे-छोटे टीले और गले मे फन्दे-सा कसता मीलो लम्बा लाल फीता।

बेबी कार के क्या अर्थ हैं और उसकी क्या रूपरेखा होगी, इस बारे में कोई उलझन नही होनी चाहिए। हर बार हमे यही पता चला है कि वह पाच या छ सीट वाली होगी नियोजित परिवार के लिए बनी कम कीमत वाली कार होगी। 'पाण्डे कमेटी' ने अपनी रिपोर्ट म (जिसे आज तक जनता के सामने रखा न गया) एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया था। इस छोटी गाडी को बनाने के लिए देश मे दिनो-दिन बढते कल पुर्जे-उद्योग पर निर्भर करना होगा। इस उद्योग मे पचास करोड की पूजी लगी हुई है। इन चीजो म ईमानदारी और बेईमानी के अनुपात की मात्रा किसीसे छुपी नही। क्या भरोसा कि इनमे बनी गाडी अचानक किसी मोड पर टूटी आशा की तरह बिखर न जाएगी या परियो के सपनो की तरह धुए और लपटो मे अन्तर्धान न हो जाएगी? खैर खतरो का नाम जिंदगी है। वैसे भी गरीब आदमी को बहुत मुसीबतें उठाने की आदत है।—निरतर टूटते कल पुर्जो के बीच अगर वह अपनी जिंदगी की गाडी ठेल सकता है तो क्या मिनी गाडी नही? उसके पास दूसरा इलाज भी क्या है? उसके लिए गाडी बनाएँगे, 'बडे लोग'? वे जिन्हे, देशी कल पुर्जा-बाजार स कोई वास्ता नही, क्योकि उनकी सवारिया हैं—डॉज, पोलारा, मर्सडीज, वैंज,फोर्डजेफर, शेवरले, इम्पाला वगैरा। मिनी गाडी तो अमीर भाई का गरीब भाई को दान है, और दान के घोडे के दात नही देखे जाते।

फिलहाल तो जनता जानना चाहती है कि अपनी मिनी-आशा पूरी करने के लिए वह किस मन्त्र का जाप करे? सारे देश मे मोटरगाडी बनाने वाले केवल तीन उद्योग हैं। जितनी गाडिया एक साल मे बनकर तैयार होती हैं, उससे ज्यादा नई गाडियों की बुकिंग उस साल मे हो जाती है। नतीजा यह कि कार के उम्मीदवारो की लाइन बढती ही जा रही है, साथ ही बढ रहा है—काला बाजार और पुरानी गाडियो की लीपा-पोती का धन्धा। ऐसी सभी गाडिया सडको पर दौडती-दौडती सामने लगती है और बिना नोटिस ठिठककर खडी हो जाती है। फिर यातायात रुक जाता है और कन्धे-से-कन्धा टकराती गाडियां दुर्घटनाओ का वातावरण तैयार कर देती हैं। किसी कार की आख ज्योतिविहीन हो जाती है, कोई तीन टागो पर टगी रह जाती, है कोई घुटने टिका देती है। कोई आश्चर्य नहीं कि इन हालात मे ज्यादा-से-ज्यादा लोग अपने भीतर के कलाकार को अपनी कार की सजावट से सन्तुष्ट करने लगें और दिल्ली की सडको पर दौडती चित्रकार मकबूल फिदा हुसैन की अद्भुत कार की कई सावित्रें तैयार हो जाए।

आह! नन्ही सी जान और आफतें बेशुमार। इन उबड-खाबड सडको पर

केवी बार कितने दिन सास ले पाएगी ? फिर टैंक की ऊची दरें। हमारा देश इस क्षेत्र में भी तो बाजी मार गया है। आय-कर की तरह कार-कर भी विश्व भर म सबसेऊ चा भारत मे है। मुश्किलें ज्यादा होती हैं तो हौसले भी उतन ही बुलन्द हो जाया करते हैं। एसा न होता तो इसान आज भी घास म नगनता ढकता, चकमक से आग जलाता घूमता। लोकसभा म तत्कालीन मत्री महोदय रघुनाथ रेड्डी ने इस सूचना की पुष्टि की कि सजय गाधी द्वारा प्रस्तावित ६,००० रुपये की और पूर्णत भारतीय कल पुर्जो स निर्मित मिनी कार बनान की योजना पर सरकार सोच विचार कर रही है। सरकार न सोच विचार किया, निर्णय सजय गाधी के पक्ष म दिया और सजय की सजीवनी पूरी काग्रेस-सरकार क लिए काल-कूट बन गई ।

लेकिन अमरबेल या मरसी तो उसका नाम न बदल गया होता। 'जब तक सास तब तक आस' का वरदान लेकर इसान पैदा हुआ है। बम्बई में एक कोने स खबर उठी—एक उद्योगपति ने कम खर्चीली तीन दरवाजो वाली 'मीरा' का नमूना तैयार किया है। कोल्हापुर जिल की एक प्रदर्शनी म यह इस आश्वासन के साथ घूघट उठाकर आई कि सन् ७७ तक यह आपकी हो जाएगी। कीमत कुल १२ ००० और इसके कल पुर्जों का निर्माण महाराष्ट्र म होगा और कारखाना प्रतिमाह ५०० कारों का निर्माण करेगा।

गाडी बाद म, प्रतियोगिता की दौड पहले। सन् ७६ की अप्रैल म स्कूटर्स-इडिया ने घोषणा की कि व तीन पहिया वाली प्रति लिटर २० कि० मी० चलने वाली मिनी बना रहे हैं। य नन्ही सी जान ६०० कि० ग्राम वजन उठा सकती है—यानी छ व्यक्ति इसम समा सकते हैं। गाडी की सक्षमता को ध्यान म रखत हुए इसकी रु० १७,००० कीमत ज्यादा नही आकी गई।

रेस म एक और गाडी आ उतरी। गुजरात के एक पिछडे प्रदेश स पाच सीटो वाली मिनी गाडी की योजना के स्वर सुनाई पडे। इजीनियर—उद्योगपति मोहन भाई मिस्तरी ने बताया कि वे १९६७ स माया पर काम कर रहे थे। अब इसकी अतिम परीक्षा 'वेहिकल रिसर्च एस्टेब्लिशमट' म हो रही है।

वादो और दावो के बीच एक छोटी सी गोल मटोल गाडी कभी कभी सडको पर फिसलती नजर आने लगी। निराशा की बरसात म एक इन्द्रधनुष निकला—यह 'बादल' कर्नाटक की सनराइज ऑटो इडस्ट्रीज द्वारा तैयार की गई। यह अद्भुत 'बादल' कठिन परीक्षाओ को आधी से विजयी निकलकर अहमदाबाद के रिसर्च एण्ड डेवलपमट एस्टेब्लिशमेंट स मान्यता पा चुकी थी। उद्योग प्रबधक निदेशक आर० के० सिपानी क अनुसार, इसका बाजार मूल्य कुल १५,००० रु० था, कर्नाटक मे १५० बादल कारें टैक्सी के रूप म चल रही थी और एक पारी के काम सेही कारखाना २५० वाहन प्रतिमास निकाल रहा था। यह एक लीटरपेट्रोल

के आहार पर २५ कि०मी० का सफर तय कर सकती थी और इसका जिस्म पूर्णतः ततु-काच और पॉलिएस्टर से बना था।

आह! क्या यातायात की झुलसाती लू म एक प्राणदायी बदली छा गई। लेकिन कहा? बात यह है कि हम भारतवासी भाई-चारे से रहते हैं और घर हो या बाहर, जरा एक दूसरे को ठेलत-टकराते चलन म अपनी सामाजिकता का इजहार करते है। अगर टीन, लोह हो, ठोक-पीटकर समतल कर भी लें लेकिन बादल के नरम, नाजुक जिस्म को ठेस लगी और उसमे एक बल आया नही कि पूरा पॉलि-एस्टर शीशा ही चटक जाएगा। मोटरगाडी रखने वाले तुलनात्मक तौर से कुछ अमीर हो सकते है लेकिन मूलत वे एक गरीब देश के प्राणी है। उनके सामने गाडी खरीदने स पहले दो अहम सवाल होते है—(१) फायदे-नुकसान के आकडे क्या हैं? और (२) उसकी 'री-सल वैल्यू' क्या है? इस तर्क के आगे 'मिनी', 'मैक्सी' सभी गाडिया चित हो जाती है।

एक ओर गर्दिश का सितारा मध्य एशिया क तेल-कूपो म निकलकर सारी दुनिया की तरफ धूमकेतु की तरह लपक रहा है। उसकी आच से अमेरिका जैसा समृद्ध देश झुलसा जा रहा है, फिर हमारी क्या बिसात? तो क्या यह मिनीगाडी की लम्बी दौड बेकार ही है? कहते हैं, दुनिया मे यातायात-समस्या हल करने का एक ही उपाय है—चुस्त सार्वजनिक यातायात व्यवस्था। तो अब दो ही सूरतें सामन रह जाती हैं—या तो बेबी कार को बेबी बस म बदला जाए या डीजल स चलने वाली छोटी गाडियो को बनाने की एक नई फाइल खोली जाए। और तब तक जिस्मानी गाडी म दो पहिये लगाकर पैदा करने के लिए खुदा की नेमत का शुक्र अदा किया जाए।

युवा-अशांति क्यो ? रचनात्मक दिशाए

नारे लगाते युवक, बसो को फूकते कुलपतियो क आफिस के बाहर धरना देते बाह फैलाए चीखते चिल्लाते सारी दुनिया को धकियाते रोज सुबह अखबारो के साथ हर घर मे घुस आते हैं। आफिस जाने की भागाभागी मे पिता हमेशा उन युवको म पडोसी के बच्चे का चेहरा देखता है अपने बेटे का नही। मा सिर्फ परेशान होकर रह जाती है कि उसका बेटा समय स खाना खाने नही आता न जाने कहा भटकता फिरता है। जिस दिन स वह सिर फुडवाकर या आसू गैस म आख सुजाए घर लौटता है या विश्वविद्यालय स निष्कासित कर दिया जाता है उस दिन माता पिता चौंकते हैं और फिर पडोसी के लडके को गाली देते हैं जिसकी सोहबत म उनका होनहार बेटा बिगड गया। उन्हे समझ म नही आता कि उनका लडका इस तोड फोड के काम क्या करता है ऊलजलूल बातें क्यो करता है पढता लिखता क्यो नही विद्रोही क्या हो गया ?

युवा विद्रोह का एक दूसरा रूप भी अखबारो के माध्यम से हमारे सामने आता है कि एक गरीब लडका भीड मे औरत का पर्स छीनकर भाग गया गले की चेन खीच ली या चार धनी परिवार के लडको ने किसीकी गाडी उडा ली किसी जौहरी की दुकान से हीरो का हार गायब कर दिया पिस्तौल दिखाकर शराब की दुकान स विलायती शराब की बोतलें उडा ली।

तीसरा रूप दिखता है युवको क लबे बालो मे गल म झूलती मालाओ म आखो म छाए चरस गाजे और मरजुआना क नशे म अमेरिकी स्लग व उच्चारण मे और स्वच्छद यौन व्यवहार म। वे बात करते है आत्मोन्नति भगवान और प्रेम की फूल शक्ति की ईर्ष्याहीन सामूहिक प्रणय भाव और भेदरहित समाज की लेकिन एक राक्षस का तिरस्कार करत हुए दूसरे जिन्न के वशीभूत हो बैठत हैं जो बाह्य रासायनिक प्रभावो स उनक तन मन का सचालन कर रहा है।

इस दलील को नकारा नही जा सकता कि यह समस्या आज के बढते हुए विज्ञान और तकनीकी उपलब्धियो की देन है। भारत अथवा पश्चिमी एशिया बहुत खुशहाल नही लेकिन फ्रास और अमेरिका तो है। फिर वहा क्यो आए दिन दगा फसाद होता रहता है ? पहले क्रान्ति सामाजिक या धार्मिक अन्यायो के विरुद्ध हुआ करती थी। आज छोटी छोटी समस्याओ को लेकर अनु-क्रातिया आ उपस्थित होती है। लेक्चर हॉल का छोटा होना, परीक्षा-पद्धति मे सुधार या शिक्षा-सस्थानो म छात्र प्रतिनिधित्व की कमी—बहाना कोई भी लिया जा सकता है। फिलिस्तीनी युद्ध अथवा देशव्यापी भ्रष्टाचार—इस तरह का कोई अहम् सवाल लेकर ये क्रातिया नही होती। ये आदोलन दूर या पास की प्राथमिक कठिनाइयो पर प्रतिक्रियाए नही है। तो क्या इन्हे समसामयिक समाज के प्रति विद्रोह की गूज माना जाए ? रूसी भाषा म एक कहावत है 'अधिक चर्बी स पगलाना'। किंतु देश चाहे आर्थिक रूप से धनी हो या निर्धन—सभीमे आज युवक स्वय को असम्पृक्त महसूस कर रहा है। वह ऐसे समाज के बीच जी रहा है जहा उसपर अलगाव विरक्ति, यान्त्रिकता और अमानवीयता के दबाव है। कही भी उसे वैयक्तिक स्पर्श नही मिल पाता। ऐसी दशा म समाज जो सुरक्षा और समृद्धि उसे देता है, वह भी व्यर्थ हो जाती है। परम्परागत शिक्षा-प्रणाली इतनी दोषपूर्ण एव एकागी है कि वह भी छात्र को इनस उबरने की सामर्थ्य नही देती।

आधुनिक समाज की समस्याए प्रमुखत विज्ञान और प्रविधि की देन है। उदाहरणार्थ, अमेरिका म रग भेद की समस्या कृषि के यन्त्रीकरण से उपजी है। यन्त्रो ने जब किसानोकी जगह ले ली तो अनेक ने दक्षिण के देहातो से हटकर उत्तर के उद्योगो मे भीड लगा दी। यहा भी अप्रशिक्षित मजदूर की पूछ नही थी। इस भीड और आपाधापी न वैमनस्य को जन्म दिया, सहानुभूति समाप्त हुई। सचार के इतने अधिक साधन हो गए है कि दूरस्थित व्यक्ति भी उनके माध्यम म विकास के चरमोत्कर्ष पर पहुच हुए व्यक्तियो के रहन सहन व सुविधाओ से परिचित हो गया है। यह परिचय इच्छा जगाता है और वही इच्छा असन्तोष की जननी बन जाती है। इन कारणो को समझनेवाला युवा नेता एक एस समाज की माग करता है जो चाह इतना योजनाबद्ध न हो, इतना विकसित न हो किन्तु जहा हर व्यक्ति का योगदान होसके, जहा लोकत त्र को मान्यता मिले। एक ऐसी व्यवस्था जिसमे सामूहिकता होत हुए भी व्यक्ति की इकाई नजरअन्दाज न हो जाए।

आज का ससार एक खण्डित इकाई है। शस्त्र दौड पर बेहिसाब खर्च करता आधिक्य के बीच जड निर्धनता के द्वीपो वाला, शहरी विलासिता मे गलता, व्यर्थ शिक्षा पाता। ऐसा ससार युवक को सुरक्षित नही बनाता। स्थिति इतनी अस्थिर हो गई है कि न इस पीढी को और न आनेवाली पीढी को—अगले क्षण म अपने अस्तित्व का निश्चय है। अस्तित्व विनाश का यह भय देशो को अपनी आर्थि

और राजनीतिक दोषपूर्ण नीतियों से नहीं है। उन्हें डर है—शक्तिशाली राष्ट्रों की स्वलीन राजकीय इकाइयों में, जो अपनी अधिकाधिक ताकत एक-दूसरे को परास्त करने में लगाने की सोचती रहती है। अमेरिका और यूरोप के कुछ छात्र-नेताओं ने कहा है कि हमारा आंदोलन आधुनिक तकनीकी सभ्यता को तोड़ने के लिए है। उन्होंने यह आशा भी व्यक्त की कि तोड़ने के इस प्रयत्न में ही नई-अधिक सवेदनशील जीवन-पद्धतियां स्वतः उठ खड़ी होंगी। कहीं ऐसा तो नहीं कि यह केवल एक भावुकतापूर्ण कदम है, तर्क-सम्मत, गम्भीर क्रांति नहीं, जिसकी असल जरूरत है।

जब हम युवक की बात करते हैं तो हमारे मन में विद्यार्थी का चित्र उभरता है किन्तु वास्तव में देखा जाए तो विद्यार्थी युवा-वर्ग से कहीं बड़ा एक और युवा-वर्ग है जिसमें हर तरह का काम-काजी या बेकार युवक आता है। अफसर, क्लर्क, मजदूर, किसान, बोझा ढोनेवाला, ड्राइवर —सब इसमें शामिल हैं। गांव और शहर सभी जगह यह युवा-वर्ग है। लेकिन वास्तविकता यह है कि सामूहिक विद्रोह का प्रदर्शन या तो विद्यार्थी-वर्ग में होता है या मजदूर वर्ग में। कारण यह कि वे ही सबसे ज्यादा सुसचालित और व्यवस्थित हैं।

विद्यार्थी-वर्ग और मजदूर-वर्ग की सामाजिक और नैतिक समस्याएं समान होते हुए भी, आर्थिक व व्यक्तित्व-सम्बन्धी समस्याएं काफी भिन्न हैं। समाज में उनका स्थानीकरण भी इतना पृथक् है कि अक्सर विद्यार्थी-वर्ग के आंदोलन की एक बड़ी आलोचना यह होती है कि वे ट्रेड-यूनियन के तौर तरीकों को अपना रहे हैं, मानो यह करना भयंकर अपराध है।

विद्यार्थी और कामगार का यह विभेद काफी हद तक हमारी वैचारिक कगाली और पिछड़ेपन को अभिव्यक्त करता है। आज के युवा विद्रोह का प्रमुख कारण यही है कि शिक्षा और श्रम बिलकुल अलग क्षेत्र मान लिए गए हैं। विचारक-लेखक ज्यां पॉल सार्त्र ने एक बार फ्रांस के विद्यार्थी नेता डेनियल कान बेंदित से कहा कि विद्यार्थी समूह एक वर्ग नहीं है उसे आयु और ज्ञान के सदर्भ से जाना जाता है। पारिभाषिक रूप से विद्यार्थी वह है जो किसी भी समाज में, सपनों के समाज तक में, एक-न-एक दिन अवश्यमेव विद्यार्थी नहीं रहता। इसका उत्तर देते हुए बेंदित ने कहा था कि यही विचारधारा मुसीबत की जड़ है। आज के नियमानुसार कुछ लोग अध्ययन करते हैं और कुछ काम कर रहे हैं। इस तरह हम सब सामाजिककार्य-विभाजन (डिविजन ऑफ लेबर) के शिकार हो गए हैं। आज जरूरत है एक ऐसे युग की, कल्पना की, जहां पर हर कोई उत्पादन कार्य में लगेगा और साथ साथ विद्या लाभ भी करेगा। कामगार और विद्यार्थी के विभेद को तोड़कर समानोत्तर श्रम व अध्ययन का सिद्धांत लागू करना होगा।

वर्तमान युवा-आंदोलन के भटकाव की जड़ यह है कि उसके पास अपनी

समस्याओं को समझने-बूझनेवाले, उन्हें रचनात्मक दिशा देने वाले युवा-नेता नही है। सब जानते हैं कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का वास्तविकता से कोई संबध नही है। वह हमें जिंदगी का मुकाबला करने के लिए तैयार नही करती। वह हमारे भीतर स्वतंत्र चिंतन नही उपजाती। उच्च-शिक्षा के नाम पर ऊब और बाह्य संभावनाओं का एक ऊसर धरातल हमारे सामने खुल जाता है, जिसमें डिग्री का भोंपरा खुरपा देकर हमें छोड दिया जाता है। जीवन-संग्राम में रत प्राध्यापक या तो अनुपस्थित होता है या नितांत आदर्शवादी पाठ पढाकर, वास्तविकता से विसंगत करके युवा-शक्ति को जूझ-जूझकर खंडित होने के लिए छोड जाता है। सबसे मजे की बात यह है कि यह शिक्षा नौकरी दिलाने का कार्य भी सिद्ध नही कर पाती। अधिकांश पाठ्यक्रम अव्यावसायिक होने के कारण एक ऐसे शीशमहल में बंद कर जाते हैं कि विद्यार्थी को समाज में व्यावसायिक व्यक्तित्व (आक्यूपेशनल आइडेंटिटी) तक नही मिल पाता।

भविष्य के अनिश्चय को युवक किसी भी मूल्य पर और बढाना नही चाहता। उल्टे उसकी सबसे बडी कोशिश यही है कि वह किसी तरह, साधारण से-साधारण ही क्यो न हो, निश्चित स्थान समाज में अपने लिए बना ले। इस प्रक्रिया में वह न कोई अडचन चाहता है, न विलम्ब। वह परीक्षा पास करने के लिए मेज पर छुरा निकालकर बैठता है। फेल हो जाता है तो उपकुलपति का घेराव करता है, विश्वविद्यालय की इमारत को नुकसान पहुचाता है। उसे जल्दी-से-जल्दी डिग्री चाहिए, क्योकि डिग्री के बिना उसकी कोई पूछ नही है। पढकर डिग्री प्राप्त करने की जहमत वह उठाए क्यो, जब जानता है कि समाज में ज्ञान का महत्त्व नही है —महत्त्व सिर्फ एक घोषणा-पत्र का है। जो जरा गहराई में जाता है, वह तर्क करता है कि उसे जो शिक्षा मिलेगी, जरा भी कार्य-संगत नही होगी। टीचर्स-ट्रेनिंग करनेवाला युवक जब नौकरी पर जाता है तो अपने सीखे-पढे को पहले ताक पर रख आना होता है। बिजनेस-मैनेजमेंट करनेवाला युवक कारखाने में आकर मालिक और मजदूर, मान और बाजार के सम्बन्धो को नये सिरे से, नये दृष्टिकोण से दुबारा सीखना शुरू करता है। वास्तु-शिल्पी स्वर्गिक भवन निर्माणकला सीखकर भई, राजकीय दडबेनुमा मकानो की पंक्तिया खडी करने पर मजबूर किया जाता है। साहित्य का विद्यार्थी पुस्तक से सीखता है स्वतन्त्र-चिन्तन और जीवन में चाटुकारिता की अमोघ-शक्ति।

ये सारी बातें इतनी स्पष्ट हैं कि हर एक की जुबान पर हैं। विद्यार्थी भी इनसे अपरिचित नही, लेकिन युवा-नेतृत्व इनपर सक्रिय और सुझावात्मक विचार करने में असमर्थ रहा है और इसीलिए कोई भी निश्चित सुधार-कार्यक्रम वह सामने नही रख पाया है। वह तोडता है, इस उम्मीद में कि अनावश्यक को हटाते-हटाते उसे आवश्यक का सुराग मिल जाएगा। इस विध्वंस के पीछे प्रेरणा और

अंतिम लक्ष्य कुछ पाने, कुछ सवारने, सुधारने का है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। लेकिन यह प्रयत्न नहीं, एक प्रकार का भाग्यवाद है, वैचारिक शून्यता का एक दूसरा रूप है।

इस सबके बीच कभी-कभी कुछ ऐसा हो जाता है कि उम्मीद जाग उठती है। इंदौर के एक युवा अधिवेशन को ही लें। उसमें एक छात्रा मदालिनी दवे ने पुरानी पीढ़ी को स्थिति के लिए मुख्यतया उत्तरदायी ठहराते हुए यह भी कहा कि उनके कधों पर दोष रख देने भर से हम अपनी जिम्मेदारी से बरी नहीं हो जाते। हमें समाज को बदलना होगा वरना अगली पीढ़ी हमें ही दोषी ठहराएगी। सैकड़ों भारतीय युवक-युवतियों ने इसमें भाग लिया। सैर-सपाटे, मुफ्त भोजन-निवास के आकर्षण के बगैर अपने खर्च पर वे सब वहा जमा हुए थे। कैंप के दिनों में सड़क-निर्माण का कार्य और कॉनफरेंस के दौरान 'वामपथी हिंसात्मकता और युवा-वर्ग', 'युवा और साप्रदायिकता', 'राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में भारतीय युवक' तथा 'शिक्षा में क्राति'—जैसे विषयों पर दिन-दिन भर और कभी-कभी देर रात गए तक चर्चाए होती थी। वहा तमिलनाडु से आए कुछ युवकों ने बताया कि उन्होंने किसी समय हिंदी विरोधी आदोलन में भाग लिया था, लेकिन बिहार के सूखा ग्रस्त क्षेत्र में मदद पहुचाने के लिए हिंदी पढ़ी और बिहार के कई परिवारों के मनचीते बन बैठे। बम्बई की गदी बस्तियों भिवडी व अहमदाबाद के साप्रदायिक दगों से ध्वस्त इलाको और देश के अकाल-पीड़ित प्रदेशो में एक माह श्रम दान देने की अपील पर तत्काल चौदह सौ अर्जियां उपस्थित हो गई थी।

आज जनता की उत्तेजक खबरों की माग और समाचारपत्रों द्वारा उस माग-पूर्ति का तरीका कुछ ऐसा हो गया है कि जहा युवक एकजुट होकर शातिपूर्वक अपने वर्तमान और भविष्य पर विचार करते हैं या कैंप लगाते हैं, विविध सहायताकार्यों में हाथ बटाते हैं, उसकी न कहीं विशेष चर्चा होती है, न चित्र छपते हैं। किसीको उसका पता ही नहीं चलता। इसके विपरीत हर समाज-विरोधी घटना को पूरी तरह सनसनीखेज बनाकर छापा जाता है। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि युवा-वर्ग इस तरह का सृजनात्मक काम बहुत कर रहा है। तर्क केवल यह है कि जो चर्चा का विषय बनाया जाता है, वह आकर्षण का केन्द्र होता है। यदि सार्थक कामों को अभिव्यक्ति दी जाए तो संभवत उसके प्रति अधिक युवा खिचेंगे और उनके लिए ऐसी सूचनाए दिशा निर्देश का कार्य भी कर पाएगी। यदि विदेशी फिल्म देखकर डाके डालने की प्रेरणा मिल सकती है, तो साप्रदायिक दगों को रोकने के लिए जान की बाजी लगाने वाला की कहानी भी कहीं कोई ज्योति जरूर जगा सकती है।

सारी स्थिति पर विचार और बार-बार पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। आखिर क्या कारण है कि मद्रास, कालीकट, बगलोर, लखनऊ, हैदराबाद,

सिकंदराबाद, सागनी, कानपुर, अहमदाबाद, आगरा, पुणे, दिल्ली, पटना, राँची, डिब्रूगढ़, पतनगर—तमाम शहरों के युवकों को विद्रोह की सुलगती आग ही एक सूत्र में बाँधती है—किसी तरह का कोई रचनात्मक कार्य नहीं ? आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार अभी तक हम किशोरों में हलचल मचाने वाली ईडिपस और इलेक्ट्रा ग्रंथियों से ही परिचित थे। लेकिन अब 'असतोष' अपने-आपमें एक ग्रंथि बनकर युवा-मन को बीमार बना रहा है। इस रोग के प्रारंभिक लक्षणों को अभिभावक अक्सर पहचान नहीं पाते। परिणामतः रोग व्यापकता और तीव्रता—दोनों आयामों में फैलता चला जाता है। उत्तेजना की इस ग्रंथि को निराधार अफवाहों, भड़कीले भाषणों और अवयस्क राजनीति से और बल मिल जाता है। यही कारण है कि आज अध्यापक का दायित्व बहुमुखी हो गया है। विद्यार्थी अपने माता-पिता से उतना प्रभावित नहीं होता, जितना शिक्षालय के वातावरण से। लेकिन अध्यापक-वर्ग अपने ही चक्करों में फँसा हुआ है। उसे विद्यार्थी का आदर्श पूरा करने की न फुर्सत है न इच्छा। अधिकांश अध्यापकों के लिए हर विद्यार्थी-उपद्रव छुट्टी मनाने का अवसर भर बनकर रह जाता है।

इन मौकों का फायदा उठाते हैं राजनीतिक दल। यों भी, असुरक्षित भविष्य से परिचित युवक अपने अस्तित्व को मान्यता दिलाने की स्वाभाविक इच्छा में राजनीति का दामन पकड़ता है। लेकिन इस क्षेत्र में उसका प्रवेश भी सही अर्थों में उसका राजनीतिकरण नहीं है। वह न वाद समझता है न वाद के दावे। वह हल्के दामों बिक जाता है और अंततः किसी न किसी पार्टी-नेता के स्वार्थ की बलि चढ़ जाता है।

पंडित नेहरू ने एक बार युवा आक्रोश के संदर्भ में तीन मुख्य कारणों को रेखांकित किया था (१) दलगत वैभिन्न्य और राजनीतिक हस्तक्षेप जो शैक्षिक जीवन को विकृत कर देता है, (२) विभिन्न स्तरों पर अध्यापकों के प्रति सम्मान का अभाव, और (३) वार्षिक परीक्षा का अतिरिक्त महत्त्व।

साथ ही हमारी एक और बड़ी समस्या यह रही है कि शिक्षा के क्षेत्र में हमारे सारे प्रयोग और आदर्श अपनी मिट्टी से न उपजकर आयातित रहे हैं। किसी-न किसी साँचे में अपने विश्वविद्यालयों को ढालने का प्रयत्न हम अपनी वास्तविकता से दूर करता गया है। यों भी जिन 'आदर्श शिक्षा-प्रणालियों' को हमने प्रतिच्छवित करने का प्रयत्न किया, वे सभी विकसित देशों की थीं। उनकी और हमारी परिस्थितियों, परिवेश में कोई समानता नहीं है।

जाहिर है कि समस्या हर कदम पर उलझी हुई है, फिर भी आश्चर्य होता है कि स्वयं युवा-वर्ग अपने असतोष के निकास और उन्मूलन के सृजनात्मक मार्ग खोजने को व्याकुल दिखाई नहीं देता। वह असतुष्ट है, लेकिन उस असतोष के कारण को दूर करने का उपाय न जानता है, न जानने का पूरा प्रयत्न करता है।

चारो तरफ को दलदल को बढाने से मदद करता है, घटाने मे नही। उसने एक अजीब पलायन और हताशा की भावना का वरण कर लिया है। यह सही है कि छाया हुआ अधकार बहुत घना है और अकसर युवक स्वय को अकेला और बे-सहारा महसूस करता है। 'मैं-अकेला क्या-कर लूगा' की भावना से 'जाने दो,सब-चलता है' की मन स्थिति सिर्फ एक कदम के फासले पर होती है। यह पलायन-वाद अपेक्षाकृत आसान है। ऐसे मे जब व्यक्ति अवसरवादी होकर अपने स्वार्थ के लिए भारी शक्तियो को मोड देता है तब कही अटकाव आने पर उसका रोष पूरी तरह से एकातिक और पाशविक हो जाता है। वह विद्रोह नही है, परिस्थितियो से अकेले जूझने का प्रयत्न कविता, कहानी, चित्र, सगीत और मूर्ति जैसी कलाओ मे भी उभरता है, लेकिन वह रोष अकेले का होने के कारण शुद्ध सृजनात्मक होते हुए भी आत्मा मे, अपने आशय मे, सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे रचनात्मक नही हो पाता। इसलिए युवा-विद्रोह को रचनात्मक होने के लिए सामूहिक होना होगा।

भारत जैसे देश मे जहा काम के असख्य क्षेत्र खुले हुए है, युवा-वर्ग को दिशा हीनता का अनुभव क्यो हो—समझ मे नही आता। शायद इसीलिए कि काम ज्यादा भारी, इतना ज्यादा विशाल और उलझा हुआ है कि वह शुरू करने से पहले ही हार मान लेता है या कभी-कभी विदेशी युवक की तर्ज पर अपना विद्रोह प्रकट कर अपने खून के उबाल को शात कर लेता है। सारे ऊहापोह के बाद तथ्य यह निकलता है कि उसके रोष और विद्रोह को रचनात्मक दिशा देनेवाला कोई चाहिए। वह 'कोई' सरकार हो, युवा-नेता, माता-पिता, प्राध्यापक या फिर सब मिलकर। जरूरत यह है कि युवा वर्ग मे भविष्य के प्रति आस्था और उससे भी ज्यादा भविष्य निर्माण मे अपनी शक्ति के प्रति आस्था उत्पन्न हो। यह तभी होगा जब तत्कालीन समस्याओ के प्रति वह सलग्नता महसूस करेगा तथा आलोचना के साथ साथ रचना भी करना सीखेगा। अनपढो को शिक्षा, कुआ की खुदाई, सडको और पुलो का निर्माण, बीमार और असहायो की सहायता—सब कार्यो मे युवको की मदद अपेक्षित है। रूढियो से छलनी हुए देश का भला युवको को ही करना होगा। दहेज-समस्या का दायित्व सिर्फ युवाओ पर है। भ्रष्टाचार का बोलबाला सिर्फ उनकी कायरता के कारण है। जब सरसो के तेल मे मिलावट के कारण बस्ती-की-बस्ती अपग हो गई थी तब युवा विद्रोह देखने मे क्यो नही आया ? जब तक पर-समस्या से स्व-समस्या का गठबधन युवा वर्ग नही कर पाएगा और जब तक उस समस्या का इलाज उधार मागकर नही, बल्कि खुद आविष्कृत कर, नही करेगा, तब तक युवा-विद्रोह की सार्थकता पर अकर्मण्यता का भारी पत्थर रखा रहेगा।

पश्चिम के औघड़ ऋषिकुमार : हिप्पी

आज की पत्र-पत्रिकाओं में और हमारी, विशेष रूप से विद्यार्थियों की, बात-चीत में कुछ शब्द बार-बार आ जाया करते हैं—'हिप्पी', 'फ्लावर पावर' ('ग्रिप्पी', 'मरजुआना', एल० एस० डी०')और हम पाते हैं कि भारत के हर बड़े नगर में दिन में दो-तीन बार हमारा सामना एक विचित्र वेशभूषा वाले व्यक्ति से हो जाता है। तनिक उलट-फेर के साथ मुख्यतः उसका हुलिया यह है—बे-नहाया गोरा रंग, बढ़े हुए रूखे बाल, थेगली-लगे मैले-मुसे कपड़े, नंगे पैर, नंगे या फटी सैण्डिलों में, अजीबो-गरीब मनकों की मालाओं की सज्जा और कभी-कभी गले में झूलता गिटार। इसे दिल्ली की पराठे वाली गली से 'अशोका होटल' के भव्य बैंक्वेट हॉल तक कहीं भी बेझिझक, बेफिक्र, घूरती आंखों की उत्सुकता से अनछुआ, विचरते पाया जा सकता है। मन में किसी पल वितृष्णा जगती है इस अघोरी के प्रति तो किसी पल जिज्ञासा कि कौन है यह वैरागी? क्या ये सब गौरांग तपस्वी तपस्विनियां भारत में ही अपना मसीहा पाएंगे? ये कभी महर्षि महेश योगी के यहां, तो कभी भगवान रजनीश के आश्रम में नृत्य-गीत की गुंजार में डूबते हैं और कभी तंत्र का जाल बुन सिद्धियां लूटने का प्रयत्न करते हैं। अमेरिका के आंकड़ों के अनुसार, ये हिप्पी हैं ही कुल तीन लाख। तो क्या, भारत के हर नगर में बिखरे ये दीवाने उस गणना से कहीं अलग हैं?

वाशिंगटन के एक हिप्पी-क्लब में दाढ़ी बढ़ाए, कानों में मुरकी पहने एक हिप्पी बियर की चुस्कियां लेता है और घण्टों बुदबुदाता रहता है, 'परस्यूट आफ हैपिनेस' (आनन्द की खोज)।" अक्सर 'हैपिनेस' शब्द 'हिप्पीनेस' में बदल जाता है और जब उससे सवाल किया जाता है, तो वह चौंककर कहता है कि दोनों में क्या कोई अन्तर है?" यानी, वह और उसके साथी आनन्द की खोज कर रहे हैं। यों, यह खोज किसने नहीं की? ईसा, बुद्ध, कन्फ्यूशस, प्लेटो, अरस्तु

—क्या वे कुछ और खोज रहे थे ? रूसो का यह शागिर्द अगर आज अपने समाज का विरोध करता है, प्रकृति की ओर लौटता है और मानव-आत्मा को स्वतन्त्र तथा अनैतिक घोषित करता है तो इसे पाखण्डी क्यों मान लिया जाता है ? शरीर के सुख में परमानन्द तक पहुंचने का प्रयत्न भी कोई नई बात नहीं। कर्ज लेकर घी खाने वाले जड़वादी चार्वाक् पूर्व में बहुत पहले जन्म ले चुके हैं और पश्चिम भी एपिक्यूरस के ऐन्द्रिय सुख पर आधारित 'हीडोनिज्म' से ईसा से लगभग तीन सौ वर्ष पहले ही परिचित हो चुका था।

हिप्पी-वर्ग समाज की नैतिक रूढ़ियों को तोड़ना चाहता है। वे प्रयत्न कर रहे हैं कि इंसान फिर से लौटकर एक स्वच्छ और पाखण्ड-रहित नैतिकता पर जा लगे। उनका कहना है कि दोगलेपन और गन्दगी का मूल है—पैसा। इसलिए हमें, पहले, जीवन में 'पैसे का अवमूल्यन' करना होगा। आधुनिक सभ्यता के ठेकेदार अमेरिकी पैसे और हैसियत को तराजू से हर भाव और सम्बन्ध को तौलने लगे हैं। (गवाह आर्थर मिलर, जेम्स बॉल्डविन, सॉल बैलो, जॉन अप्डाइक) स्वाभाविक ही था कि इस भावना के विरोधी भी उसी जमीन पर जन्म लेते। यों यह दृष्टिकोण धर्म का मूलभूत सिद्धान्त सदा रहा है और इस तरह हिप्पी भी शायद नये मूल्यों की स्थापना कर रहे हैं।

वे अपने सिद्धान्तों को धर्म का नाम नहीं देते क्योंकि इस शब्द के साथ कुछ परम्पराएं और पूर्वाग्रह जुड़े हुए हैं। भारत की आध्यात्मिकता ने उन्हें क्यों मोहा और ईसाई मत की ओर वे उतना क्यों नहीं मुड़े—यह भी विचारणीय है। भारतीय और पाश्चात्य धर्म में मोटे तौर पर यह अन्तर देखा गया है कि ईसा का बताया मार्ग अधिक व्यावहारिक है। इसीलिए आधुनिक भारतीय भी उसकी ओर झुका था। किन्तु हिप्पियों को सम्भवत: उसकी यह व्यावहारिकता ही अग्राह्य रही। इसके अलावा अपने धर्म में कोई नवीनता इन युवकों को अब दिखाई नहीं देती थी। जिस धर्म को उनके दादा-परदादा निबाहते चले आ रहे थे, वह नई पीढ़ी के लिए अपना सारा नशा खो बैठा। इसलिए वास्तविक आनन्द और नयेपन की खोज में ये भारतीय दर्शन और धर्म की ओर मुड़े।

हिप्पियों का प्रतीक चिह्न है—फूल। फूल जिस तरह बिना काम किए, बिना सामाजिक बन्धनों में बंधे, प्रकृति की खुली देन की तरह हंसता और खिलता है, उसी तरह हिप्पी मनुष्य को भी स्वतन्त्र और निश्चिन्त देखना चाहते हैं। वे बच्चों को फूल बांटते चलते हैं। अक्सर सैकड़ों-हजारों की संख्या में वे इकट्ठे होते हैं—तरह-तरह के फूलों से सजे, गिटार की ध्वनि पर 'प्रेम' के गीत गाते हैं। न्यूयार्क के सेण्ट्रल पार्क में १०,००० हिप्पियों ने एक पिकनिक (बी-इन) मनाई। इन्द्रधनुषी रंगों की पोशाकें, लम्बे बाल, ढीले-बेतुके कपड़े, अजीबोगरीब बिल्ले (पतलून त्यागो, यथार्थ बैसाखी है, मेरी पॉपिन भगेड़ी है,

प्यार भोगो · युद्ध नहीं), पुलिस आ पहुंची थी और उसे घेरकर हिप्पी समूह गा रहा था, 'प्यार···प्यार···प्यार···।" मेला लगा हुआ था, पतंगें उड़ रही थीं, जगह-जगह झण्डे फहरा रहे थे, विषय था—'देना और बांटना'। उन्होंने बाद में बताया कि इन मेलों की प्रेरणा 'मानव-मात्र के लिए प्रेम की भावना' है। 'टाइम' पत्रिका के अनुसार, "हिप्पी भले लोग हैं। 'पुष्प-शक्ति' कदापि विध्वंस के लिए नहीं है।" इन सिद्धान्तों को मानने वाले धूर्त नहीं कहलाएंगे। वे एक अधिक सुन्दर और स्वस्थ दुनिया चाह रहे हैं। उनके तरीके—उस दुनिया को पाने के, भले ही आपत्तिजनक हो सकते हैं।

- ☐ इनकी सबसे पहली शर्त है—सामाजिक नियमों का पूर्ण बहिष्कार। हर प्रकार की सामाजिक संस्था को ये तोड़ना चाहते हैं। "यदि ये संस्थाएं दस हजार साल से चली आ रही हैं तो इसका अर्थ यह नहीं कि ये अमर हैं।"
- ☐ प्रेम और सेक्स की सम्पूर्ण स्वाधीनता। यद्यपि इनमें विवाह भी होते हैं लेकिन ज़ोर सामूहिक-संलग्नता पर है।
- ☐ पैसा जिन्दा रहने के लिए जरूरी है इसलिए वह जहां से भी हो, जैसे भी मिले—दान, भीख, सहायता—इन्हें स्वीकार है।
- ☐ यह धारणा कि कोई भी काम पैसे के लिए किया जाए, न कि काम की आन्तरिक सन्तुष्टि के लिए—इनमें विद्रोह कराती है।
- ☐ स्थायी नौकरी इनकी योजना में कहीं स्थान नहीं रखती।
- ☐ कपड़े और लिबास पद व सामाजिकता का प्रतीक है इसलिए उनकी ओर से ये बिल्कुल उदासीन हैं। हालांकि एक खास किस्म की पोशाक इनका अपना चिह्न बन गई है।
- ☐ ये बौद्धिकता से भी दूर भागते हैं क्योंकि बौद्धिकता नैसर्गिकता से दूर भागती है।
- ☐ हिप्पी-गुरुओं के अनुसार, सामान्य स्तर से ऊपर उठने के लिए नशा जरूरी है। उनका धर्म-गुरु और एल० एस० डी० का जन्मदाता डा० टिमोथी लियरी एल० एस० डी० को 'पवित्र अध्याय' की संज्ञा देता है। साधारण नशे से लेकर गांजा, चरस, मरजुआना, एल० एस० डी० (हिप्पी भाषा में ग्रास, ट्रिप) और मिथिड्रीन (स्पीड) सबका सेवन क्षम्य ही नहीं, आवश्यक है। लगभग चालीस रुपये की खुराक की यात्रा (ट्रिप) हर हिप्पी के लिए सम्मान का प्रतीक बन गई है।

पूर्वज और प्रादुर्भाव

हिप्पी-आन्दोलन ने अकस्मात् एक रात में जन्म ले लिया हो—ऐसी बात

नहीं। विश्व-प्रसिद्ध इतिहास लेखक आर्नल्ड टॉयनबी के अनुसार हिप्पी प्रारम्भिक ईसाइयों की याद ताजा करते हैं जो रोम-साम्राज्य के पतन का कारण बने। उन्हींकी तरह इन्होंने भी आज के समृद्ध और अधोगामी अमेरिकी समाज से अपने को तोड़ लिया है और यों उसकी त्रुटियों को प्रकाश में ले आए है। आर्थर केस्लर की दृष्टि में मनुष्य मानव-विकास की ऐसी भयानक गलती का शिकार है कि उसका इलाज शायद 'ड्रग्ज' के अलावा कहीं नहीं। उसका दिमाग, ज्ञान और बुद्धि, विकास और समझदारी के उस बिन्दु पर पहुंच चुके है जहां पलायन का हर रास्ता बन्द है। वह हर स्थिति, हर काम के लिए स्वयं उत्तरदायी है। हिप्पी अपनी इस कैद को पहचानकर 'यात्राओं' (ट्रिप्स) की शरण में जा चुका है।

इन बन्धनों से मुक्ति और दृष्टि की प्रखरता पाने के लिए कलाकार हमेशा बाह्य उपकरणों का प्रयोग करता है। नास्तिक के लिए य और भी आवश्यक हो जाते है क्योंकि भक्ति का नशा उसे प्राप्त नहीं। हिप्पी के पूर्वज वास्तव में अमेरिकी न होकर यूरोपीय रहे है। अमेरिका में न तो कॉलरिज था, न पो, न बॉदलेयर, *न रिम्बो न वर्लेन, न ऑस्कर वाइल्ड—यहां तो बायरन और शैली तक न थे।* अमेरिका की समसामयिक बीमारियां वही है जो उत्तर मध्यकालीन इतालवी और फ्लेमिश नगरों की थीं। वहां मध्यवर्गीय युवक के सामने सम्भावनाएं सिकुड़कर खत्म सी हो गई थीं। हिप्पी भी विस्तृत विश्वविद्यालीय शिक्षा के उच्छिष्ट हैं। वे आज की प्रतियोगिता पद्धति में सृजनात्मक अथवा बौद्धिक रूप से फिट न बैठ पाने वाले बेमेल टुकड़े हैं। अपनी हार को एक बार स्वीकार कर लेने से मनुष्य चिन्ताओं से मुक्त होकर गहरे सन्तोष की स्थिति में पहुंच जाता है। पहले का युवक समाज में स्थान पाने के लिए जूझता था और अपने को समाज के योग्य बनाने की कोशिश करता था। किन्तु यह हिप्पी युवक-समाज में स्थान न बना पाने पर समाज को त्याग डालता है और उसे तोड़ डालना चाहता है।

क्यों और कैसे ?

अधिकांश हिप्पी समझते है कि वे बुद्ध की तरह अपने भरे पूरे समृद्धिशाली परिवारों को त्यागकर निकल पड़े है। यह बात दूसरी है कि बुद्ध के विपरीत इनमें से अनेक, अपने घरों से आर्थिक सहायता पाने में झिझकते नहीं। एक विख्यात समाजशास्त्री के अनुसार, हिप्पी आन्दोलन अमेरिकियों की अपेक्षाकृत अधिक लम्बी और चिन्तारहित किशोरावस्था का परिणाम है। जिन देशों में चौदह वर्षीय किशोर को रोटी कमाने में लग जाना पड़ता है, उसे मानसिक उखाड़-पछाड़ के विलास की फुरसत ही नहीं रहती। वह कैसे अपने और परिवार व समाज के सम्बन्धों की शव-परीक्षा में उलझा रह सकता है? यह बात इन हिप्पी

वक्तव्यो स स्पष्ट हो जाती है।

एक सरकारी अफसर का बेटा—क्लिण्ट (आयु १५ वर्ष) "मेरा बाप दुनिया के उद्धार म लगा है। मुझे तो दुनिया उद्धार के लायक जान नही पडती। और उसे जिन्दगी से मिल क्या रहा है? मैं जानता हू, उसे मेरी कोई परवाह नही। मैं तो कुछ भिन्न बनना चाहता हू।"

१४ वर्षीया मैथगीन "मेरे घर वाले रात को देर से लौटने पर तूफान खडा कर देते है। इसके पीछे बात सिर्फ यही है—पडोसी क्या कहेंगे? दोस्त क्या कहेंगे? इन लोगो को दिखावे से ही वास्ता है। य तो हमेशा अपने धन्धो मे पडे रहते हैं—इनकी बातें अक्ल म नही आती।"

१६ वर्षीय टॉमी "हा, मैंने एल० एस० डी० की 'यात्रा' की है। उस यात्रा मे मैंने खुद को देखा है। जो देखा, वह शायद पसन्द तो नही आया—लेकिन वाकई—देखा जरूर—खुद को पहचाना जरूर।" "मन था इसलिए यह यात्रा की ···हो सकता है फिर भी करू···क्या? ड्रग मिली कहा से?· पुलिस के जासूस हो क्या?"

१४ वर्षीया पैड-पैड (रैन बसेरा) मे रहने वाली जैनेट "हमें यहा बडी परेशानिया हैं। अगर हमे प्यार और स्वच्छन्दता मिल जाए तो हम जरूर घर लौटना चाहेंगे।"

इस तरह के उखडे हुए बच्चे घर छोडकर भाग जाते है। अमेरिका मे घर से भाग जाने वालो मे जो १८ प्रतिशत वृद्धि हुई है, वह अधिकाशत ऐसे ही किशोर-किशोरियो की है। वे अपनी पहचान खो बैठे है और अपनी असलियत ढूढ रहे हैं। उनके पलायन मे सारा दोष क्या उन्हीका है? उनके नासमझ माता-पिता अपने बच्चो की यातनाओं और छटपटाहट को न समझकर ही अकसर उन्हें भागने के लिए विवश कर देते हैं। बच्चे शायद ही कभी अपने माता-पिता की असन्तुष्टि से अपरिचित रहते हो। और आज का बच्चा तो उसे पूरी गहराई से पहचानता है। उसके माता पिता ने जिस खोखली जिन्दगी को दब्बू ढग से, मन से अस्वीकारते हुए भी ऊपर से ओढ रखा था, उस जिन्दगी को अपनी बारी आने पर, बच्चे डके की चोट त्याग देते हैं।

ये सारे 'भटके हुए लोग' एक-दूसरे का सहारा ढूढते है। और इस तरह एक दल की स्थापना हो जाती है। धीरे-धीरे इसमें सैद्धान्तिक नेताओं ने जन्म लिया और इन्होंने अमेरिका मे अपना 'इजराइल' ढूढा—हिप्पीलैण्ड 'मार्निग स्टार' (सुबह का सितारा)। १९६७ मे इसकी स्थापना करते हुए हिप्पी-नेता लो गॉटलीव ने कहा, "हम जिन्दगी की सुरक्षा के लिए मार्गदर्शक की खोज कर रहे हैं। हिप्पी, तकनीकी बेरोजगारो की पहली लहर है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज की परम्परा को जारी रखने मे हमारी पहली परेशानी जगह मिलने की थी और

अब दूसरी यह है कि इस नगरी के प्रति कौन-कौन आकर्षित होता है। हम जीवन-पद्धति की नई परिभाषा बनाने में लगे हैं।"

हिप्पी-कालोनी में रहनेवाली एक युवती 'लिजा' कहती है . "जैसे ही मैं यहा आई, सडकों पर मुझे अपनी हर मुस्कान का उत्तर मुस्कान से मिला। वहा, घर पर, ऐसा नहीं था। इस तरह मुझे रहने की जगह मिल गई—एक सामूहिक कमरा, जहा हम हर चीज बाटकर भोगते हैं—और मैं यहा ही टिक गई।"

भावुकतावाद ?

हिप्पी-आन्दोलन बुद्धि से पलायन करता है। तर्क और मनोवैज्ञानिकों की भाषा में जिसे 'कोरा प्रभाव' कहा जाएगा—दोनों के प्रति अधिकाधिक असन्तोष बढ रहा है। आज से ५० वर्ष पहले 'डाडावाद' में इसी माध्यम से लगभग यही बात कही गई थी। हिप्पी-क्लबों के 'साइकेडेलिक' (तीव्र नशे की स्थिति में रचे गए) संगीत, प्रकाश और कला की तरह 'डाडावाद' ने भी शोर से भर संगीत, ऊलजलूल कार्य और कला-विरोध का प्रचार किया था। 'डाडावाद' यूरोप के गिने-चुने विशिष्ट व्यक्तियों का प्रथम विश्व-महायुद्धोत्तर प्रयोग था। इसी तरह 'अतियथार्थवाद' (सुर्रियलिज्म) भी युद्धोत्तर तबाही की प्रतिक्रिया था। किन्तु मान्य मापदण्डों पर प्रहार करके भी ये आन्दोलन 'झूठ' को पूरी तरह बुहार न सके थे। हा, इनसे बन्धन और सदाचार की कुछ परम्पराएं अवश्य टूटी थीं। धीरे-धीरे, 'डाडावाद' और 'भविष्यवाद' के सिद्धान्तों ने आकार लेना शुरू किया। 'भविष्यवाद' की शक्ति और शान मुसोलिनी का फासिज्म बने और जिस तरह 'डाडावाद' कला-विरोधी था, उसी तरह 'नात्सी' राजनीति-विरोधी हुए।

रोमाण्टिक, तर्क-विरोधी आन्दोलनों में सदा यह कमी रह जाती है कि वे मूलत भावुक होते हैं। 'भविष्यवाद' और 'डाडावाद' में कहीं पहले रूसो, नीत्शे आदि अनेक विचारकों ने बुद्धि की अपेक्षा भावना को महत्त्व दिया था। इनसबका ध्येय यही रहा—विकृतियों से छुटकारा, मनुष्य के अन्तर को आजादी, असत्य की जगह सत्य की स्थापना, प्यार का दान। लेकिन मनुष्य के अन्तर में है क्या ? प्रेम—सही है, किन्तु घृणा और क्रोध भी तो। और आधुनिक प्राणी में—आघात पहुंचाने की इच्छा भी। यदि हिप्पी आन्दोलन से भविष्य का संकेत लिया जाए तो स्पष्ट है कि आने वाला 'कल' तर्क और व्यवस्था पर नहीं चलेगा। भावुकता का यह उमडाव सदा राजनीति-निरपेक्ष भी नहीं रहेगा, जब वह कर्मठ हो उठेगा —तब क्या होगा ?

और अगर ·

उस 'तब' का स्वाद हमें अभी से कुछ-कुछ मिलने लगा है। शिकागो में 'डेमो-

क्रेटिक नेशनल कन्वेंशन' के अवसर पर हजारों युद्ध विरोधी हिप्पी उमड आए। आकाश पुलिस हैलिकोप्टरों से पट गया और नगर की जल-सप्लाई पर कड़ी निगरानी थी कि कहीं हिप्पी उसमें एल०एस० डी० घोलकर डेमोक्रेटिक 'वृद्धि भवतो' को उड़ा डालने की धमकी में सफल न हो जाए। अमेरिका के इतिहास में किसी राजनीतिक सम्मेलन के अवसर पर ऐसी स्थिति आज तक खडी नहीं हुई थी।

नगे बदन, नगे पैर, सामाजिक मर्यादाओं को तोडते, स्वतत्र प्रेम का डमरू बजाते ये शिव के गण—हिप्पी—अगर किसी दिन उस विचित्र देवता के पूरे भक्त बनकर, तीसरा नेत्र खोल ताण्डव की चेष्टा कर बैठें तो क्या न हो जाए—यह बार-बार विचारणीय है।

महानगरीय जीवन मे लोक-कलाएं

इसान ने जिस दिन चौपाये से अलग अपनी दोपायी हस्ती को पहचाना, कला का जन्म उसी दिन से हो गया। इसान और जानवर मे सबसे बडा अन्तर ही यह है कि जानवर सिर्फ जिन्दा रहता है जबकि मनुष्य जीवन मे जीने की कला जानता है। अगर जीवन को सही अर्थों म देखना है तो महानगरो की बडी-बडी आर्ट गैलरियो के लक-दक बरामदे छोडकर गावो की ओर निकलें। वहा पनपती है लोक-कला। वह कला जो जीवन मे हर बदलाव के साथ मुडती हुई अपने लचीलेपन की वजह से सदा जिंदा रहती है। वह फैशन की आधी से झुक नही जाती, न ही वह बदलते सिद्धान्तो के झक्कड से टूट जाती है। वह कला जमीन म जन्म लेती है और उसीमे जडें जमाए पनपती है।

कला का जन्म अपने भीतर की हलचल को अभिव्यक्त करने के लिए हुआ। यह हलचल अगर अन्दर ही दबा दी जाए तो इसान का समूचा व्यक्तित्व हिल उठे। आत्माभिव्यक्ति की यह छटपटाहट चित्र, सगीत और नृत्य के रूप मे मूर्त होती है। एक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार, कला का पहला प्रस्फुटन समाज मे अपनी उपयोगिता जाहिर करने के निमित्त हुआ था। आदिम युग मे उसी स्त्री या पुरुष का आदर होता था जो शिकार कर सकें या अपने कबीले को दूसरे कबीले वालो और जगली जानवरो से रक्षा कर सके। जब सारे ताकतवर पुरुष आखेट को निकल जाते थे तब कुछ कमजोर, बीमार या अपाहिज लोग गुफाओ मे पीछे छूट जाते थे। उनके साथी जब शाम को लौटकर आते, तब देखते कि गुफा की दीवारो पर शिकार के रगीन दृश्य अकित हैं। गुफा के द्वार पर फूल और पत्ते चित्रित होते। मिट्टी के अनगढ़ बर्तनो पर भी सुन्दर आकृतिया बनी होती। इसके अलावा ये लोग बच्चो के लिए खिलौने गढते और लम्बी जगली घास बीनकर उससे गुदगुदे आसन बुनते ताकि उनके थके-मादे भाई-बन्द लौटकर उनपर आराम पाए।

तरह इन प्रारम्भिक कलाकारों ने आत्माभिव्यक्ति के साथ-साथ समाज में
पना एक विशेष स्थान भी बना लिया। यही कारण है कि लोक-कलाओं के साथ
पयोगितावाद जरूरी तौर पर जुड़ गया।

मनुष्य के विकास के साथ-साथ दो तरह की सभ्यताएं उभरीं— शहरी-सभ्यता
ौर ग्रामीण सभ्यता। नागरिक कलाओं का एक विशुद्ध व्याकरण बनता गया।
स व्याकरण की सीमा में ही वह कला पनपी, बढ़ी और धीरे-धीरे शास्त्रीय होती
ई। चाहे वह नृत्य हो, संगीत, चित्र, निर्माण या साहित्य पर ग्राम्य-कला
ग्रामीण जीवन का एक अभिन्न अंग रही। हर तीज-त्योहार और सामाजिक
उत्सव पर ग्रामीण कला की आवश्यकता अनुभव होती थी। वस्त्राभूषण, पूजा की
सामग्री के पात्र मण्डप—सभी चीजें तरह-तरह से सजाई जातीं। इनपर देवी-
देवताओं की आकृतियां, पौराणिक कथाएं, ऐतिहासिक महत्त्व की घटनाएं और
दैनिक जीवन में रची-बसी कहावतों व मुहावरों के चित्र अंकित किए जाते।
वास्तविकता का ज्ञान और मूलभूत सत्य की पहचान इन कलाकारों की कला का
आदिस्रोत रही। यही कारण है कि धर्म इनके लिए महत्त्वपूर्ण रहा और लोक-
कलाओं के चौखटे में काम करता हुआ भी कलाकार एक सामूहिक चेतना को कला
में उभारता रहा, और इसीलिए चाहे शास्त्रीय कला अपने रूप बदलती चली गई,
लोक-कलाएं हमेशा जीवन-बिन्दु से अपने को सींचती रहीं और नये-नये प्रयोगों
की आपाधापी में नहीं पड़ीं। इन कलाकारों ने किसी शिक्षालय में कला की शिक्षा
नहीं पाई। इनके लिए कला प्रकृति की देन के समान रही, या यह उन्हें सांस्कृ-
तिक विरासत के रूप में मिली जिसे वे पीढ़ी दर-पीढ़ी सहजता से देते-लेते चले
गए।

बहुत लम्बे अर्से तक ये लोक-कलाएं गांव में ही पलती-पनपती रहीं—नागर
और सुसंस्कृत कहलाने वाले कला-समीक्षक और कला-प्रेमी इनकी ओर से निरपेक्ष
रहे।

उन ग्राम कलाकारों की दक्षता और शिल्प-पटुता को व्यावसायिक-वर्ग ने जरूर
परखा और पहचाना। तभी तो उन कलाकारों को गांवों से लाकर बड़े नगरों में
बसाया गया और कीमती बनारसी साड़ियां, लखनऊ का चिकन का काम, हैदरा-
बाद की बिदरी कला या कश्मीर का पेपर मैशी का काम, नम्दे, कालीन तथा बेश-
कीमती जामावार शॉल इन लोक-कलाकारों के चमत्कारी हाथों से तैयार होकर
व्यापारियों की तिजोरी भरते रहे। कुछ कलाओं का तो इतना ज्यादा व्यावसायिक
विकास हुआ कि वे धीरे-धीरे लोक-कला के क्षेत्र से ही निकल गईं।

सच तो यह है कि विशुद्ध लोक-कलाओं में वे ही गिनी जानी चाहिए जिन्हें
गांवों के कलाकार अपने आसपास से प्राप्त वस्तुओं को इस्तेमाल में लाकर उपयोग
या अलंकरण के लिए निर्मित करते हैं। लोक-कला और हस्तशिल्प की वस्तुओं

मे भी वहुत अन्तर नही है। चटाई बुनना शिल्प है, लेकिन उसीम जब महीन सीको का प्रयोग करके सुदर रग विरगी आकृतिया बुन दी जाती है, वह कलाकृति हो जाती है। इसके अतिरिक्त सामान्य ग्रामीण वस्तुओ को जब नागरिक अपनी वैठका म कलापूर्ण ढग स सजा लते हैं तव एक साधारण मिट्टी का घडा भी लोक-कला का नमूना वन जाता है। असल मे फैक्टरियो से निकली चीजो के मुकाबले हस्तशिल्प म कला का समावेश होता ही है क्योकि इनका निर्माण कारीगर के हाथो से होता है, न कि साचे म ढले नमूनो और मशीनो म। इस तरह हर वस्तु मे, चाहे वह हथकरघे पर बुना कपडा हो या कुम्हार के चाक पर गढी सुराही—कारीगर के भीतर छिपे कलाकार का भी समावेश हो जाता है और वह वस्तु कमोबेश कलाकृति का रूप धारण कर लेती है।

वस्तुत मशीनी सभ्यता की एकरसता से ऊवे शहरी मन को लोक कला की इसी व्यक्तिवादिता और नयपन ने इतना रिझाया है कि अव वह अपने अत्याधुनिक बगले को ग्रामीण कलाकृतिया स सजाने लगा है। एक काल्पनिक दृश्य मे चलें। और काल्पनिक भी इसे क्यो कहे ? इसके सारे उपादान अलग अलग घरा म बिखरे पाए जा सकते हैं

आप किसी बगले का रगीन बासो का गेट खोलते ही है कि रेशम की डोरी से बधी एक पीतल की घण्टी कही भीतर टनटना उठती है। फिर कच्छ की कढाई और शीशो के वन्दनवार से सजा दरवाजा खुलता है और राजस्थानी वन्धेज के उन्नावी पर्दे को हटाकर गृहिणी बाहर झाकती है। भीतर जाते है तो देखते हैं कि बाहरी पर्दे के आगे रगीन मनको की झालरें पडी हैं। इस पारदर्शी पर्दे के पीछे उनकी बैठक है जो किसी मौर्यकालीन श्रेष्ठी के प्रकोष्ठ सी झलक रही है। गृहिणी ने विजली का स्विच ऑन किया तो मिट्टी की जालीदार हडिया के शेड से प्रकाश बनकर सुन्दर आकृतिया म चारो ओर विखर गया। एक ओर कोरे बास का दीवान है और उसपर देवी दुर्गा के छापेवाली कलमकारी चादर बिछी है। दूसरी ओर गुजराती सखेडा काम की लाख की पालिश से चिकनी रगीन कुर्सिया हैं। इसके अतिरिक्त रगीन निवाड और बान से बुनी पीढेनुमा कुर्सिया हैं जिनके पीछे कासे की नन्ही नन्ही घण्टिया हिल रही हैं। कमरे के बीच राजस्थानी नम्दा बिछा है—हरा, पीला और लाल। जिस कुर्सी पर आप बैठे है, उसपर सूखे फूस से बुने गुदगुदे असमिया आसन पडे हैं। बगाल के कलाकारो के हाथो से तपाए सैरेमिक के मगो म केवडे का शर्बत पीते हुए आप दीवारो पर दृष्टि डालते है। बिहार की मधुबनी चित्रकला का नमूना एक ओर तथा दूसरी ओर दीवार पर आन्ध्रप्रदेश का सूर्याकार ताम्रपट्ट। दीवान की पृष्ठभूमि म एक बडा-सा फड लगा है जिसम रामायण के कथा प्रसग अकित है। किताबो की अलमारियो पर कौडियो स मजी लाक्सीर-झाका है और हाथी-दात जडे सागवान

वे डिब्बे मे सिगरेट रखी हैं। अब रगीन सीकियों से बुनी टोकरी मे फल आते है। इन्हे गृहिणी चन्दन की मूठवाले चाकू से तराश रही है। ढोकरा धातु पात्र मे इलायची पेश की जाती है और तब आता है खस का पानदान, जिसके खुलते ही खुशबू फैल जाती है।

हम भारतीय है और यह स्वाभाविक है कि भारतीय वातावरण मे हमे राहत मिलती है। इसान अपनी मिट्टी, अपनी जलवायु मे ही पूर्णत सुखी रह पाता है। अग्रेजो की दासता के साथ-साथ हमने उनकी साज-सज्जा अपना ली थी। अपना रहन-सहन और वेश भूषा उनके साचे मे ढाल ली थी। आजादी के साथ-साथ जहा हमने अपनी गरिमा को पाया है—वहा अपने तौर-तरीको की सुविधाजनक सहजता को भी दुबारा पहचाना है। ऊची ऊची मेज-कुर्सियो पर टागें लटकाकर बैठना आरामदेह नही हो सकता। भारी-भरकम सोफासेट, जो भारत के दसमाही गर्दीले मौसम मे मनो धूल मिट्टी अपने भीतर जमा कर लेते है, भला, हलकी-फुलकी बास की बनी तिपाहियो और दीवान का मुकाबला क्या करेंगे? इन्हे सरकाओ, जमीन से चटाई लपेटो और कमरे को रगडकर धो डालो। ठडक और सफाई दोनो सहज ही प्राप्त हो जाते है। वनस्पति रगो के छपे पर्दे हो, काठ का फर्नीचर या बेंत के मूढे—चिलकती भारतीय धूप इनके रगो का कुछ नही बिगाड सकती।

लोक-सस्कृति का पुनरुत्थान महज फैशन नही है। यह अपनी खोज और भारतीयता की पहचान की दिशा मे उठा हुआ एक महत्त्वपूर्ण कदम है। इन कलाओ की उपयोगिता और आकर्षण आज भारत ही नही, सारे विश्व को चमत्कृत किए हुए है—यह बात प्रतिवर्ष बढते निर्यात के आकडे आसानी से सिद्ध कर सकते है।

दहेज : एक टूटी तराजू

दफा १४४, वेश्या-वृत्ति-विरोधी कानून, शारदा-ऐक्ट या फिर रैण्ट कण्ट्रोल ऐक्ट, सबका उद्देश्य है समाज के पहियों को सुचारु रूप से गतिशील रखना। जब तक ये पहिये पटरी से बंधे हैं तब तक खुशहाली है, जिंदगी में अमन-चैन है और वातावरण सद्भावपूर्ण बना रहता है। लेकिन इंसान की फितरत कुछ ऐसा मजाक है कि वह स्वभावतः अपने हित के लिए स्वयं खींची हुई सीमाओं को तोड़ता चलता है और अपनी भलाई के लिए उठाए हुए महल खुद गिरा देता है। ऐसा न होता तो क्यों अदालतों का निर्माण होता, फौलादी हथकड़िया डाली जाती और न्याय-संहिताएं पृथुलतर होती चली जाती? आदमी के अंदर शैतानी अहर कब फुफकारने लगे, कह पाना बेहद मुश्किल है, इसीलिए हर पल उसे काबू में कसे रखने के लिए कानूनों की जंजीर लंबी हुई जा रही है।

२०वीं सदी का आरंभ एक अजीब दोगले माहौल से गुजरा। संसार—पहले और दूसरे भयानक विश्व महायुद्धों के जबड़ों में फंसा हुआ भी एक ओर विज्ञान के इन्द्रधनुषी सपने देखता, पूंजीवादी खनक और नये सुविधाजनक यंत्रों की झनकार के साथ गुनगुनाता रहा और दूसरी ओर अमीरी को दुत्कारता, मार्क्स का मस्तिष्क और खुली हवा में धड़कता फ्रॉयड का दिल लिए, गांधी, टॉल्स्टाय और बर्टेंड रसल के दिखाए रास्तों पर कदम बढ़ाता रहा। सामान्य आधुनिक मानव दो पाटों में पिस गया। यही कारण है कि आज उसके बचे-खुचे मूल्य भी अपने स्थान से स्खलित हैं। वह सोचता कुछ है, करता कुछ है। वह दूसरे को धिक्कारता है, उसपर उंगली उठाता है, लेकिन स्वयं उसी काम को किसी न-किसी कारण की आड़ लेकर कर गुजरता है।

कभी-कभी लगता है कि उदारता और दूसरे के मन को पहचानने, न दुखाने की समझदारी बड़ी महंगी पड़ती है। अपने देश में पचरंगी हवा हर पल बहती है।

धर्म-सम्प्रदायों की बात करें तो, धर्मों का प्रश्न उठाए तो। सम्भवतः दर्शन की सदी परंपरा ने हमें इतना सरल बना दिया है कि हम किसीको भी भावना को ठेस पहुंचाना नहीं चाहते। नतीजा यह कि कानून गढ़ते वक्त भी उसमें सारे दृष्टिकोण समेटने के प्रयत्न में अनेक सिरे लटकते छूट जाते हैं। दाव और जिरह की गुंजाइश बनी रहती है और वह इतना लचीला हो जाता है कि वादी-प्रवादी दोनों उसे अपने-अपने हक में मोड़कर उसका स्वरूप ही मिटा डालते हैं।

अक्सर दहेज के कानून को लेकर भी यही डर मन में उठने लगता है। १९६१ में सरकार ने दहेज-विरोधी कानून लागू किया था। कानून की आवश्यकता निर्विवाद थी। सदियों पहले दहेज लेने-देने का रिवाज नवविवाहित दम्पति के जीवन को आसान बनाने का व्यावहारिक प्रयत्न था। धीरे-धीरे समाज में पुरुष की कद्रदानी और स्त्री की बेकद्री के दौर में यह एक तिजारत बनकर रह गया। जिसके घर में बेटी पैदा हुई, उसके घर में मानो कुड़की का ढोल बज गया और जिसके यहां बेटा हुआ, वहां हुंडी खुल गई या किस्मत की लॉटरी का नंबर निकल आया। गरीब मां-बाप इस बोझ के नीचे ऐसे पिसे कि बेटी आग का काटा हो गई। दहेज की जड़ें इतनी मजबूत होती गईं कि लगने लगा, कोई दैवी प्रतिभा ही अवतार लेकर इस दानव को धराशायी कर पाएगी।

भारतीय स्त्रियों के भाग्य का सितारा यों तो स्वतन्त्रता-संग्राम के साथ-साथ जागने लगा था। तमाम बड़े-बड़े नेताओं ने चाहे वे धार्मिक हों या सामाजिक और चाहे राजनीतिक—इस बात पर जोर दिया कि अपने घरों में पर्दों में दबी-डरी औरतें सूरज की रोशनी में नहीं आएंगी। जब तक भारतीय पुरुष उन्हें अपना हमराही और सही अर्थों में जीवनसाथी नहीं बनाएंगे, तब तक देश पराधीनता और दुर्भाग्य के पंजों से छुटकारा नहीं पाएगा। गांधीजी ने देश के अनपढ़ और गंवार होने की सबसे बड़ी वजह यह बताई थी कि हमारी मां और बहनें अनपढ़ और दमित हैं। उनकी ललकार पर पर्दानशीन औरतों का हुजूम झूठी लज्जा के घूंघट उलटकर तिरंगा हाथ में उठाए, लाठियां सहते, गोलियां खाते हिम्मतेमर्दों को शर्मिंदा करता सड़कों पर उमड़ आता था। उस युग से जो सिलसिला शुरू हुआ, वह आज तक निरंतर नारी को सम्मान की चोटी की तरफ ले जाने वाला सिद्ध हुआ। लेकिन फिर भी कहीं कोई कमी रह गई, हमारी रफ्तार ठोकरें खा गई और हम भावनात्मक रूप से स्त्री को पुरुष के बराबर हक देने में हिचकते रहे। यही कारण है कि दहेज का भूत आजकल हमारा गला दबोचे हुए है।

यह नहीं कि हमारा दृष्टिकोण तनिक भी बदला नहीं है। अक्सर अखबारों में ऐसी खबरें पढ़ने को मिल जाती हैं कि अमुक लड़की ने दरवाजे से बारात लौटा दी, क्योंकि वर का पिता फेरों से पहले मोटर की मांग करने लगा। यह भी पढ़ने

को मिलता है कि अपने पिता की किसी ऐसी ही अपमानजनक माग पर दूल्हे ने घर लौटने से इनकार कर दिया, परिवार और बिरादरी की मर्जी के खिलाफ दुलहन को बिना दहेज ब्याहकर घर ले आया। अनेक समाज-सुधारक समारोहो मे युवा दल दहेज न मागने और न लेने की सामूहिक प्रतिज्ञा लेते पढ़े-सुने जाते हैं। कुछ नौजवानो ने तय किया कि जिस भी शादी मे दहेज देने या लेने की बात उन्हे पता लगेगी या जिस शादी म बेहिसाब खर्च होता उन्हे दिखाई देगा, वहा व धरना देंगे। इसी तरह आधुनिक साहित्य मे भी यह सामाजिक समस्या स्वयमेव उभरती रहती है। जगदीश चद्र माथुर का एकाकी 'रीढ की हड्डी' शायद ही किसी स्कूल या कॉलेज म न खेला गया हो। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर उपेन्द्रनाथ अश्क, यशपाल, कृशन चदर आदि ने सीधे-सपाट ढग से और अनेकानेक आधुनिक कथाकारो ने व्यग्य, कुठा, हताशा, आक्रोश बहुआयामी रगो म अनेक बार इन मसलो को उठाया है, उनका पोस्टमार्टम करके इन घावो की गदगी को उघाडा है। वह जहर कुरेदा है जो व्यक्ति और समाज दोनो को भीतर तक रोगग्रस्त कर जाता है। इन सारी कोशिशो से इतना जरूर हुआ कि कम स-कम कुछ माता-पिता को खुल्लमखुल्ला दहज मागते झिझक महसूस होने लगी है। इस तरह के लडको की चर्चा होती है जो दुलहन को एक सूटकेस के अलावा और कुछ लिए बिना ब्याह लाते हैं। यो, इस तरह के विवाहो की बात सुनकर मन मे एक सदेह अवश्य उठता है कि उस सूटकेस मे सभवत एक मोटी रकम वाला चेक भी बद होगा। वह दहेज मे दी गई मोटरगाडी, जेवर और कपडो के दर्जनो जोडो की तरह हर एक को दिखाई नही देता। सदेह इसलिए और भी, क्योकि अकसर ये 'अनुकरणीय उदाहरण' धनी-परिवारो की देन हुआ करते है।

सरकार अपनी ओर से इन बुराइयो को दूर करने की कोशिश कानून बनाकर करती है। दहेज-बदी कानून इस तरफ उठा हुआ एक महत्वपूर्ण कदम हो सकता था, किन्तु कानून को आम आदमी और खास तौर से गरीब का जितना मददगार साबित होना चाहिए था, हो नही पाया है। समाज भीरु नागरिक अक्सर इस तलवार को म्यान स निकालता ही नही और कानून तोडने वालेको इसका वार सहना नहीं पडता। कानून बनाने से ही हर बात नही बन जाती। उसकी शक्ति को पहचानना और उससे लाभ उठाने की कोशिश करना अत्यत आवश्यक है। कितने बेटियो के पिताओ ने आज तक जाकर अदालत के दरवाजे खटखटाए है कि कोई उनमे दहेज माग रहा है—उसे सजा दी जाए? किसने आज तक यह शिकायत की है कि अमुक ने दहेज दिया और अमुक ने लिया—उनपर कानूनी कार्यवाही होनी चाहिए? सामाजिक कायरता के कारण हर बार कसूरवार बेदाग छूट जाता है।

दूसरी कमी किसी हद तक कानून मे ही निहित है। 'दहेज' शब्द की व्याख्या

करते हुए सेक्शन २ म कहा गया है कि कोई भी जायदाद या बहुमूल्य वस्तु, जो शादी मे एक पार्टी दूसरी पार्टी को इस उद्देश्य मे दे या देने का वायदा करे कि शादी का तय होना उसपर निर्भर हो, 'दहेज' माना जाएगा। इसमें वे लोग नही सम्मिलित हैं जो शरीयत के दायरे म आते हैं। उसके नियमो से चालित है। आगे इसको और साफ करते हुए कहा गया है कि शादी के वक्त कोई भी पार्टी दूसरी को अगर धन, वस्त्राभूषण या कोई और वस्तु उपहारस्वरूप देती है तो उसे दहेज न माना जाए। इस व्याख्या को पकडकर न जाने कितने दोषी दहेज की नाव आराम से लेकर पार उतर जाते है और कोई उनपर उगली तक नही उठा पाता। इसी तरह इस कानून के सक्शन ८ मे दहेज मागना और देना 'नितात, निर्विवाद जुर्म' नही माना गया है। इसका नुक्सान यह होता है कि सरकारी अधिकारी इसकी रिपोर्ट बतौर जुर्म दर्ज करने-न-करने का फैसला अपने हाथ मे ले लेता है। कानून के जाल का एक और तन्तु कट जाता है, उसके छेद और बडे हो जाते हैं।

यहा एक और कानून का ध्यान हो आता है, जिसका दहेज की रोकथाम मे घनिष्ठ सबध है। जायदाद और विरासत मे अब लडकी का बराबर का हक हो गया है। इस स्थिति मे दहेज बिल्कुल ही निरर्थक हो जाता है। अब कानूनन लडकी की हैसियत परिवार मे बदल गई है। आज इसका महत्त्व पता नही चलता किन्तु नि सदेह हमारा दृष्टिकोण कुछ और ही होगा। उदाहरणार्थ, एक पिता आज अपनी बेटी को दहेज देता है और कल वह भाइयों के बराबर खडी होकर बाप की मिल्कियत म से अपना हिस्सा भी बाटकर ले जाती है। उसे तो इस बदलते माहौल में दुहरा फायदा हो गया लेकिन जब वह अपनी बेटी का ब्याह रचाने चलेगी तो दहेज देते वक्त हजार बार सोचेगी। आखिर दहेज भी तो पिता की सम्पत्ति मे पुत्री के हिस्से का एक रूप ही है। उस लडकी के भाई भी आपत्ति उठाएगे और कहेगे कि हरेक को नई जिन्दगी बसानी है, सुविधाए जुटानी हैं—अगर तुम बेटी को दहेज देते हो तो बेटे को भी दो। दोनो मे फर्क ही क्या है?

यह तो पचास, सौ साल आगे की बात है। यद्यपि सभ्यता के सफर मे पचास-सौ साल कुछ नही हुआ करते लेकिन फिर भी मन-मस्तिष्क के पलटने मे इतना समय तो तब लगे जब हम आज अपने बुद्धि के कपाट बिल्कुल ही बद कर लें। हालत इतनी खराब दिखाई नही देती कि कहना पडे :

"हमारी तहजीब अपने खजर से आप खुदकुशी करेगी,
जो शाखे नाजुक पे बनेगा आशियाना नापाएदार होगा।"

आज के युवा मानसिक कारागार की दीवारें गिरा रहे हैं, खाइया पाट रहे हैं। वे साथ उठते-बैठते है, नाचते-गाते हैं, पढते-लिखते हैं और वाद विवाद करते हैं। फिर वे प्यार मे बधते हैं—शादिया रचाते है। पजाबी लडके को इडली-दोसा

लुभाने लगता है। और कश्मीरी लड़की, चौड़े लाल पाड़ की बंगाली साड़ी पहन-कर मांग सिन्दूर से भर लेती है। ऐसे में किसे होश रहेगा दहेज का ? लड़के-लड़कियां जितने पढ़े-लिखे, समझदार, आत्मनिर्भर और निर्भीक होते जाएंगे, निकम्मे रीति-रिवाजों के जहरीले दांत टूटते चले जाएंगे।

रिश्ते : नये-पुराने की रस्साकशी

अदब और कायदे की हवा मे बच्चा 'निषेध' के वातावरण मे पलता-पनपता जवान हो जाता है। होश सभालने के साथ साथ वह महसूस करने लगता है कि जीवन में हजारो चीजें एसी है जो उसे 'नहीं' करनी हैं। उस सुबह देर से नही उठना है, नाश्ते की मेज पर जोर-जोर से बातें नही करनी हैं, स्कूल मे शरारत नही करनी है, शाम को मेल मे देर तक समय बर्बाद नही करना है, माता-पिता के साथ घूमने जाने का हठ नही करना है—बडो के बीच मे बोलना नही है। नही—नही—नही। ये 'नही' उसे इतना जकड लेता है कि वह धीरे-धीरे डर और अपराध भावना म गिरफ्तार होता चला जाता है। उसके अन्दर स्वाधीनता की इच्छा और विरोध की लहरें उमडने लगती हैं। लेकिन उसे सबसे पहला पाठ पढाया गया है कि बडो की आज्ञा का सदा पालन करो, और वह गम खाकर रह जाता है।

जब बडा होता है तो एक दूसरी तरह की शिकायतों का अबार उसके सिर पर लदने लगता है। वह किसी सामाजिक नियम को सकीर्ण ठहराता है तो उसके विचारों को अवयस्क और बेहूदा करार दिया जाता है। जब वह धन-सम्पत्ति आदि के विषय मे अपनी सम्मति देना चाहता है तो उसे चेताया जाता है कि ये सब महत्वपूर्ण बातें है—उसे इनका क्या अनुभव ? "विद्यार्थी को राजनीति मे नही पडना चाहिए", 'युवा वर्ग को हमेशा तमाम राजनीतिक समस्याओ से दूर रहना चाहिए।" लेकिन मजाक यह कि पुरानी पीढी निरतर नई पीढी को याद दिलाती रहती है कि "हमने देश के लिए जो त्याग किए—तुम कभी नही कर सकते। तुम स्वदेश की समस्याओ से स्वय को जोडते नही। तुमने स्वय को सौदर्य व प्रेम, जैज और पॉप सगीत तथा पश्चिमी फैशन के आइवरी टावर मे बबुए की तरह सजा लिया है। तुम्हारा खून ठडा हो चुका है।" किन्तु जहा जवान खून

उबाल खाया कि पुरानी पीढ़ी के होश फाख्ता हुए। फौरन उसकी उमग को नये फतवे दे दिए गए—गुडागर्दी, आवारगी और उच्छृखलता।

बात यह नही कि जहा जवान खून उबाल खाता है, वहा किसी ढग का भटकाव होता ही नही। लेकिन क्या हर तलाश की मजिल भटकाव की पगडडियो से गुजरकर ही नही मिलती? क्या ससार मे कुछ भी प्राप्त किया गया है बिना कुछ खोए हुए? और क्या लीक पकडकर चलते जाने पर कभी किसीने कुछ पाया है? डार्विन के अनुसार, बन्दर से इसान बनने का पूरा सफर 'गिरने और उठने' की एक लबी दास्तान है। अब एक सवाल और उठ खडा होता है। बहस के लिए अगर हम यह मान भी लें कि आज का युवक कल के युवक से कुछ अधिक भूलें कर रहा है तो इसकी भी जिम्मेदारी किसके कधो पर है? क्या काफी हद तक उन बुजुर्गों पर नही जिन्होने मनाही की हवा म, अधी आज्ञाकारिता के घुटे वातावरण मे मनुष्य के स्वभाव को कैद करना चाहा था?

पुराने-नये के बीच लडाई कब नही रही? वास्तविकता तो यह है कि सघर्ष ही उन्नति की पताका है। यह युद्ध जितना घनघोर होता है, जिजीविषा भी उतनी ही तीव्र होती जाती है। नियम बनाए ही जाते हैं तोडने के लिए। क्रोचे ने अपनी किताब 'सौंदर्यशास्त्र' (एस्थेटिक्स) म लिखा है कि आलोचक और रचनाकार के बीच सदा एक स्पर्द्धा सी हुआ करती है। आलोचक सीमाए निर्धारित करना चाहता है और रचनाकार जितना क्रातिकारी होता है, उतनी ही तीव्रता से सीमाए तोडता हुआ आगे निकल जाता है।

यहा कुछ पक्तिया स्मरण हो आती हैं

"फूल श्लथ बधन हुआ, पीला पडा, टपका कि टूटा
तीर चढकर चाप पर, सीधा हुआ, खिच कर कि छूटा"

मानव सदियो से स्वय को नियमो मे जकडा हुआ महसूस करता रहा है। हर नये जन्म, हर बदलाव के लिए उसे फूल की तरह मुर्झाकर टूटने की धीमी प्रक्रिया स गुजरना पडता है—एक-एक डग भरकर सीढिया चढनी पडती हैं। क्या आश्चर्य कि वह इस सबसे उकता जाए और तीर की तरह छूट जाने की चाह कर बैठे?

'बिना सीढी के चढेंगे
तीर के जैस बढेंगे
इसलिए इन सीढियो के फूटने का सुख
टूटने का सुख।"

सच ही, टूटने म भी बडी राहत होती है। जजीरो के टूटने का सुख पूछा जाए किसी बदी से। रात का अधेरा सूरज के नुकीले भालो से छिद जाता है और सारी प्रकृति प्रणाम मे झुक जाती है। आखो से जब भ्रम के रगीन चश्मे उतरकर

टूटते हैं तो आखें चौंधिया जरूर जाती हैं लेकिन पत्तो की हरियाली और गुलाब का रेशमी सुर्ख चेहरा तभी पहचान म आता है।

बीसवी सदी की जिंदगी चल नही रही—भाग रही है। मानव बुद्धि के कपाट इतने चौडे हो गए है कि उसमें सारी दुनिया बडी तेजी से घुसी चली आ रही है। इस सबके बीच एक सवाल बराबर नई पीढी को परेशान किए रहता है —"मैं क्या हू—मेरी वास्तविकता क्या है—मेरे अस्तित्व के क्या अर्थ हैं ?" माता-पिता और गुरुजन की एकच्छत्रता और सत्ता के दिन लद चुके हैं। धर्म आज सही रास्ता दिखाने वाली ज्योति नही रह गया है। जो युवा सक्रिय रूप से धर्म का विरोध नही करते, वे भी अब उसे दैवी करिश्मा नही मानते और न ही धार्मिक रूढियो के अनुसार जीवन व्यतीत करने की बात सोचते हैं। इस तरह युगो से चले आए मूल्य जब उसके लिए अस्थिर सिद्ध हो जाते हैं तो वह अपने नये मूल्य, नए मापदड बनाने की ओर उन्मुख होता है। यहा उसे कुछ और परेशानिया पेश आती है। जो उसने पुस्तको से सीखा है या जो उसका अत करण करना चाहता है—जिंदगी की तल्ख असलियत उसे उन सबसे उल्टा करने पर मजबूर करती है। वह ईमानदारी की राह चलना चाहता है लेकिन दुनिया ईमानदारी को मूर्खता की उपाधि देती है। वह एक सुन्दर स्वस्थ जीवन, प्रसन्न और खुशगवार वातावरण के स्वप्न देखना चाहता है तो अनुभवी उसे आदर्शवादी स्वप्नद्रष्टा कहकर उपहास करते हैं। इस दोराहे पर आकर वह या तो धूर्त, दुनियादार भेडिया हो जाता है जो दूसरे का मास नोचकर अपना पेट भरने को हुनर मानता है, या छोटे-बडे अपराधो के रूप मे असामाजिक 'ड्राप आउट' हो जाता है।

जापान के कुछ समाजशास्त्रियो ने ससार के १३ देशो के युवाओ का एक सर्वेक्षण तैयार किया। इसमे भारत के एक हजार ग्रामीण व एक हजार शहरी युवको से भी भेंट-वार्ता की गई। इस सर्वे से कुछ बडी रोचक जानकारी मिली। आज के भारतीय युवक की सर्वप्रथम समस्या है—नौकरी। उसे पहली शिकायत है आज की शिक्षा-पद्धति से। पारिवारिक जीवन के बारे मे अधिकतर का कहना था कि हमारा घर निर्धन होते हुए भी एक सुखी परिवार है। बहुत-से युवक सयुक्त परिवार के समर्थक थे। उनका विचार था कि निर्धनता की स्थिति परिवार को जोडती है, तोडती नही। और भी दिलचस्प बात यह इन युवाओ की शिकायत थी कि हमारा समाज वृद्धजन के प्रति बहुत निर्दय है यानी इन नौजवानो को अपने कष्टो की उतनी चिन्ता नही थी जितनी बुजुर्गों की बेबसी की।

जब इन नौजवानो से सेक्स पर बात की गई तो आठ मे से सिर्फ एक ही यह दावा कर पाया कि उसकी लडकियों से मित्रता है। लगभग ७२ प्रतिशत की दोस्ती अपने ही सेक्स तक सीमित थी। लडके-लडकियो का यह अलगाव मध्य-युगीन मूल्यों की देन है। अच्छे-अच्छे पढे-लिखे और स्वय को नई रोशनी का

बताने वाले यहा आकर हथियार डाल देते हैं। अविवाहित युवको को शहर मे मकान मिलना मुश्किल हो जाता है और लडको मे बराबरी से बात करने और मिलने-जुलने वाली लडकी का नाम मुहल्ले भर की जबान पर चढ जाता है। बेटी को आजादी देने के बिंदु पर पहुचते पहुचते हजारो आधुनिको की उदारता चुक जाती है। ऐसे मे स्वच्छद समाज की तो बात ही उठानी व्यर्थ है।

यहा भी पुराने और नये की चौखट पर खडे समाज के दोगले उसूल कुछ अजब रग दिखा रहे हैं। लडकिया पढ-लिख रही हैं, घरो से बाहर आ गई है, कॉलेज के वाद-विवादो म लडको से बढकर बोलती हैं, बसो मे कधे-से-कधा मिलाकर धक्का देती चढ जाती हैं। कमाऊ पत्नी महगी शहरी जिंदगी की अनिवार्य शर्त बन गई है। लेकिन अभी भी ऐसे घर बहुतायत मे पाए जाते हैं जहा लडकी अपनी पसद के लडके से शादी करना चाहे तो कुनबे की नाक कट जाती है। "खानदान अपनी टक्कर का होना चाहिए'—'धर्म अलग नही होना चाहिए।" पुरानी पीढी अभी तक बेटे को किस्मत की लॉटरी का खुला टिकट मानती है। ऐसे मे बेटा जब अपने साथ पढने वाली बुद्धिमती कन्या को हाथ पकड-कर सामने ला खडा करता है तो मा बाप आग बबूला हो जाते हैं। इसी तरह बेटा कॉलेज के दिनो मे कितना ही स्वतत्र विचारो का क्यो न हो—जब उसकी शादी के लिए इश्तहार दिया जाता है तो उसकी खोज एक 'क्वारी दुलहन' पर जा अटकती है।

समय दूर नही जब दोनो पीढियो को अपनी नजरो मे जाले उतारने होगे। जीवन के कटु यथार्थ उन्हे और भी इस तरफ धकेल रहे हैं। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध अब वे नही रह सकते जो सदियो से चले आ रहे हैं। उनमे परस्पर सद्भाव और मित्रता बढ रही है। न कोई बडा है न छोटा, न ऊच न नीचा। न स्त्री मात्र रोटी पकाने और न पुरुष केवल पैसा कमाने की मशीन हैं। दोनो को अपनी-अपनी एक सी आवश्यकता, अनिवार्यता है। यह इलेक्ट्रोनिक युग है जब हर पाच साल म बुद्धि का माप (आई०क्यू०) बदल जाता है। पाच साल पहले सत्रह साल का लडका या लडकी जिस अदाज से सोचता था, आज वही स्तर ग्यारह बारह साल के बच्चे का है। अमेरिका मे एक फिल्म बनी 'वाइल्ड इन द स्ट्रीटस। उसमे दिखाया गया है कि पूरे मुल्क को १५ साल के किशोर अपनी मुट्ठी मे कर लेते है। उनके मनमाने शासन से पीडित एक ग्यारह वप का बच्चा लाचारी, क्रोध और झुझलाहट से बुदबुदाता है, "बारह साल से ऊपर का कोई व्यक्ति विश्वसनीय नहीं।"

यह फिल्म न हास्यास्पद है और न महज फैंटेसी। यह एक भयानक यथार्थ है। यह हमे चेतावनी देती है कि जब तक दृष्टिकोणो की खाइया दोस्ती के पुल से न बाधकर नादिरशाही तलवार से पाटने की कोशिश होती रहेगी, कोई विश्वास का पात्र नही बन पाएगा।

सन् २०००

कल्पना के झरोखे से २१वीं सदी के भारत का एक चित्र। उस नये भारत पर तत्कालीन विश्व-समाचार-जगत् की क्या प्रतिक्रिया होगी—प्रस्तुत है

पुरुष-सौन्दर्य प्रतियोगिता के समावेश को प्रणाम। इन सालाना 'मिस्टर इण्डिया' साहब का राजनीतिक प्रभाव भी कुछ कम नहीं। तानाशाह से इनकी निकटता होने के नाते उसी पुरानी कहावत 'एक बलिष्ठ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क होता है' का बोलबाला है। यही कहावत आज का सर्वोत्तम नारा है। चूंकि मिस्टर इण्डिया का मस्तिष्क 'स्वस्थतम' है, वे ही हर साल शिक्षा-मन्त्री बनाए जाते हैं। पिछले कई वर्षों से यह अनुभव हुआ है कि हर नया मिस्टर इण्डिया किसी-न-किसी क्षेत्रीय भाषा का समर्थक था। देश को इससे विशेष लाभ हुआ है। जनता को लगभग सभी भाषाओं का 'क-ख-ग' तो आ ही गया है जो कि वास्तव में सराहनीय है। भारतवासियों का जल्दी ही भाषाविद् हो जाना निश्चित है।

—न्यूजवर्क (अमेरिका)

खाद्य दिवस पर तानाशाह-राष्ट्रपति ने संवाददाताओं से कहा कि खाने की समस्या सुलझ जानी चाहिए और देश में खाना बहुतायत में हो जाना चाहिए। राष्ट्रपति के इस ऐलान के बाद खाने की समस्या हल हो गई है, क्योंकि अखबारों में भूख के कारण मृत्यु इस दिन के बाद पढ़ने में नहीं आई। अमेरिका के नीग्रो-राष्ट्रपति, अब्राहम लिंकन द्वितीय ने भारत की खाद्य-समस्या पर टिप्पणी करते हुए कहा कि अमेरिका के श्वेत अल्पसंख्यकों को इस दृष्टान्त से चेत जाना चाहिए और यह खूब अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि तानाशाही के अंजाम हैं—भूख और पट्टी-बन्द मुंह।

—टाइम (अमेरिका)

अणुबम की प्राप्ति मे भारत को अगणित कष्ट और असीम दरिद्रता का सामना करना पड़ा। लेकिन बम की प्राप्ति के साथ एक और प्राप्ति हुई—वह थी चीन की मित्रता। अब भारत और चीन के बीच सांस्कृतिक और व्यापारिक प्रतिनिधि मण्डलो का जैसे ताता लगा हुआ है और पाकिस्तान की उपमा उन दोनो देशो के समाचारपत्रो मे दी जाती है एक ऐसे कमजोर व्यक्ति से, जो पश्चिम की जूठन पर जी रहा है।

—द इजिप्शियन हरम (काहिरा)

तानाशाही खत्म करो। तानाशाही प्रेम का गला घोटती है—जिसकी लाठी उसकी भैस का सिद्धान्त भारत की आत्मा के विरुद्ध है। आध्यात्मिकता ही हमारा एकमात्र सहारा है। तानाशाही हाय-हाय ! शंकराचार्य की वाणी···क्या ये एक दिन के सुल्तान मतदाताओ से अपने भाग्य का निर्णय कराने की हिम्मत रखते हैं ?···

—सडक पर उडता एक अतिदुर्लभ अडरग्राउड पोस्टर का टुकडा

पाच वर्ष तक पृथ्वी के गर्भ मे सोए रहने के पश्चात् एक महात्मा जीते-जागते बाहर निकल आए। उनके मुखमण्डल पर तेज था और अगो मे स्फूर्ति। हजारो लोगो की उमडती हुई भीड उनके दर्शन करके धन्य हुई और उसे महात्माजी की चमत्कारी सिद्धि मे अपने पापो और कष्टो से निवारण की किरण दिखाई दी।

—'प्रयाग' पत्रिका से उद्धृत

राष्ट्रीय अभिलेखागार पर शताब्दी की धूल इकट्ठी हो गई है। दीमको के पैदा हो जाने से फाइलो की दशा और भी जर्जर हो चली है। दीमको ने १६८४ तक के रिकार्ड तो भूलवश खा ही डाले है, जो बचे है, वे 'कीपर्स' के लिए समस्या का विषय हैं। *तानाशाह के हस्ताक्षरो के बिना एक सिक्का तक खर्च करना गैर*-कानूनी है और यदि तानाशाह को कीटाणुनाशक दवाइयो को खरीदने की अर्जी दी गई तो उसकी मंजूरी मे समय लगेगा और तब तक बचे हुए रिकार्डो का भी निश्चित सफाया हो जाएगा।

तानाशाह का हर छोटी-से-छोटी चीज पर निजी दृष्टि रखने का ढग निश्चित ही बधाई व सराहना का विषय है।

—द गारदियन (लन्दन)

भारतीय रेल-जाल, जो दुनिया मे दूसरे नम्बर पर है, इस समय शस्त्र, गोला-बारूद और सिपाहियो को सीमाओ और तटो की ओर ले जाने मे व्यस्त है। यह समझ मे नही आता कि भारत आखिर क्यो परम्परागत लडाई की ही सम्भावना कर रहा है जबकि उसके विरोधियो के पास अदृश्य 'मृत्यु-किरणें' है ? यह बात भी

आश्चर्यजनक है कि अपनी अवश्यम्भावी मृत्यु को पास खड़ा देख भी भारत अपने दार्शनिक सन्त चार्वाक् की नसीहतों से लाभ क्यों नहीं उठाता और 'कर्ज लेकर घी पीने और मौज उड़ाने' का रास्ता क्यों नहीं अपनाता ?—वह रास्ता, जिसमें न दरिद्रता है और न सैनिक निरर्थकताओं पर अन्धाधुन्ध व्यय।

—द टाइम्स (लन्दन)

भारतवासी एक ऐसे शोषण का सामना कर रहे हैं जो उन पण्डितों की प्रार्थना चालित अकर्मण्यता से कहीं कठोर है जिन्होंने इस देश पर सदियों तक राज्य किया।

बगावत की लहर कब तक न आती ? यह बगावत उठी आर्थिक स्थिति के विरुद्ध जब सिपाहियों से (जो कुल आबादी का ५० प्रतिशत है) रसद बांटते समय कहा गया कि वे अपने भूख से पतलाए पेटों पर पेटिया ज्यादा-से-ज्यादा कस लें। जब अधिक दुर्बल सिपाही मरने लगे तो कहा गया कि यही देश के लिए हितकारी है। जनसंख्या इसी तरह काबू में आएगी। जो मरेगा, उसे मरणोपरांत शहीद का तमगा मिलेगा।

अब लोग बिना परमिट जहां चाहें नहीं आ-जा सकते। असल में तो लोगों के पास घूमने घामने का अवकाश ही कहां है। शायद भारत अपनी लम्बी सुस्ती और निकम्मेपन की कीमत चुका रहा है।

—ला मो (पेरिस)

विशाल भारत, बुद्ध का यह देश, पश्चिम के धोखे का शिकार बनकर रह गया है। पश्चिम ने इसे उसी तरह गहरे अंधेरे गड्ढे में डाल दिया है, जैसे किसी आततायी ने भोले, कोमल शिशु को गलत राह पर भटका दिया हो। इन सारे दाव-पेंचों और हथकण्डों का कुल जमा-जोड़ यह है कि भारत के उद्योग अन्तिम सांस ले रहे हैं। कागज की कमी के फलस्वरूप पहले ही से मुंह-बन्द अखबारों के पूर्व निर्धारित कोटे में ५० प्रतिशत की और कमी कर दी गई है और इस्पात की कमी के कारण भारी मशीनों के सारे कारखाने शान्त पड़े हैं। जाहिर है कि इस बीमारी को फैलाने वालों का ध्येय आर्थिक नहीं, राजनीतिक है।

—पीपल्स रैली (पीकिंग)

हालांकि चीन अब उसका दोस्त है, भारत सच्चे अर्थों में कम्युनिस्ट-विरोधी है। और फिर मित्रता के कच्चे-पक्के तानों-बानों को कब कौन समझ पाया है ? अब तो लगता है कि शायद दोस्ती के पवित्र बन्धन भी सामयिक और अस्थिर हो सकते हैं। पचास साल भी नहीं हुए जब भारत और चीन गरज-गरजकर अपने भाईचारे का डंका पीट रहे थे। अब वही शोर फिर। क्या इन दोनों राष्ट्रों की स्मरणशक्ति इतनी क्षणभंगुर है ?

हमारे कन्धे-से-कन्धा मिलाकर अमेरिका ने भी भारत की शारीरिक व बौद्धिक भूख सदा मिटाने का वादा किया किन्तु भारत अपने हितैषियो से भागता ही रहा है।

—ब्रोल्गा (मास्को)

ससार के अधिकतम अनपढ देशो मे से एक है भारत, जो एक लम्बे समय तक चश्माधारी बौद्धिक के हाथो मे कठपुतली बना रहा—वे बुद्धिवादी, जिन्हें आनुभविक कर्मण्यता का कोई ज्ञान न था। अब, एक साक्षात् चश्माधारी नीरो इसके विशाल आगन म अपना कोश घुमाता ढोल पीटता डोल रहा है और दो पाटो के बीच पिसी जनता अभी तक मनुज-क्रान्ति के पहले चरण तक को छू नही पाई है। सभ्यता की क्रान्तिकारी दौड की पहली मजिल—कृषि क्रान्ति।

—फ्यूजी यामा (जापान)

भारत—यह नाम ही अर्थहीन हो चुका है क्योंकि भारत के अधिकाश राज्य अधिक-से-अधिक स्वराज्य पाने के प्रयत्न म अब स्वतन्त्र इकाइया बन गए हैं। और भी छोटे-छोटे राज्यो म बट जाने के साथ-साथ इस समय भारत मे सन् साठ की १७६ भाषाओ और ५५४ लिपियो के स्थान पर ३०० भाषाए और ८६२ लिपिया हैं। ऐसी स्थिति मे राष्ट्र भाषा या सम्पर्क-भाषा की चर्चा ही निरर्थक है।

—द ईस्टर्न रिव्यू (अफ्रीका)

भारत की माली और सियासी उथल पुथल से भी बडा है उसके जिन्दा रहने का मसला। करीब चौथाई सदी स नसबन्दी कानून मुसलमानो को छोडकर सबपर लागू है। अजाम है कि भारत के मुसलमाना न कुल आबादी का ५६.०७ फीसदी होने का दावा किया है। उनकी माग है कि रायशुमारी की बिना पर उन्हे मुसलमानिस्तान मिलना चाहिए। भारत के मुसलमानो की यह माग रूहानी और अज्बाती तौर पर तो मौजू है ही, उनकी दलीलो से भी इकार नही किया जा सकता।

—द पाकिस्तान क्लाइम्क्स (लाहौर)

खण्ड 2



व्यक्तिगत

—तू है
दुर्दाम बीज
फूटता है फाड कर छाती
मेरे बावजूद—
गाँठी
कितनी भी सख्त हो पर्त ।
वर्ना
अभी भी कैसे मेरे मन मे
हसरत बाकी है
अनहोना पाने की
समुद्र से नमक उगाने की ?
देख
मेरा हाथ तेरी ओर है
जरूर है—जरूर
तेरे अंकुर मे अभी बेइन्तहा जोर है ।

एक सितारा रूपहले पर्दे का : अमिताभ बच्चन

जब मैं इस भेंट-वार्ता के लिए अमिताभ बच्चन से मिलने गई, बच्चन-परिवार किसी कदर उथल पुथल के माहौल से गुजर रहा था। बरसों दिल्ली के १३ विलिंग्डन क्रेसेंट पर रहने के बाद, इस आश्वासन के बावजूद कि जब तक हरिवंशराय बच्चन अपनी तत्कालीन पाडुलिपि पूरी न कर लें, उन्हें किसी प्रकार की बाधा न पहुचाई जाएगी, अचानक एक महीने के भीतर मकान खाली कर देने के सरकारी आदेश आ गए थे। तेजीजी ने बच्चनजी की सब पुस्तकें बंबई रवाना कर दिया जिससे वे सारी उखाड पछाड से बच जाए और स्वय सामान की पैकिंग शुरू करवा दी। अमिताभ भी तभी बीमारी से उठ कर चुके थे औरहर लोकप्रिय कलाकार की तरह उनकी बीमारी भी तमाम सिने पत्रिकाओ की चर्चा बनी हुई थी। ऐसे म मुझे वहा जाने म सहज सकोच था लेकिन तजीजी ने बड इसरार म मुझ आमत्रण दिया। उनका कहना था कि यह भेंट वार्ता किसी हद तक उनके बेटे अमिताभ की बीमारी के 'असाध्य' होने की अफवाहो को झुठलाने म भी मददगार सिद्ध होगी।

तरह-तरह के छोटे-बड़े पैकिंग केसो से बचत-बचते हम कोठी के पीछे वाले बडे दालान म छतरी के नीचे जा बैठे। अमिताभ से मेरा पहला स्वाभाविक प्रश्न था, 'तबीयत अब कैसी है?'

बस लिवर, हार्ट, किडनी सब खतम समझिए " उत्तर सुनकर मैंने चौंककर उनकी ओर देखा। मुख गभीर लेकिन आखो म शरारत की गहरी चमक।

'देखो इन्दु तुम्हे मेरा बेटा बीमार लग रहा है?' अखबार वाले ऐसी ऊट-पटाग बातें लिखते हैं कि एक दिन बबई से जया का फोन आया। रो रोकर उसका बुरा हाल था। किसीने उससे कह दिया कि अमित 'कोमा' मे है। मैंने

उसे समझाया कि पागल हो गई हो क्या ? ऐसा होता तो तुम्हे सबसे पहले खबर न पहुचती ? तुम क्या दूर बैठी हो ? खुद आकर देख लो ' तेजीजी की आवाज म प्रेस के प्रति क्रोध और दुख दोनो थे। मैंने कहा, तो आइए अमिताभजी, आपकी तबीयत की पूरी परीक्षा हो जाए। जमकर बातें करते हैं—देखें, आप थकते भी है या नही।

चाय के प्याले मेज पर पहुच गए, पेटियो की ठुकाई कुछ देर को रुकवा दी गई और *हमारी बातें शुरु हो गई*

इन्दु अमिताभजी, मैंने आपको बचपन स जाना है। आप इतने शर्मीले होते हुए भी फिल्म की दुनिया म, और वह भी अभिनय की दुनिया म कैसे चले आए ? य दोनो बातें एकसाथ कैसे सध गई ?

अमिताभ इन्दुजी शर्मीला तो मैं अब भी हू लकिन जब कैमरे के सामन जाता हू तो यह शर्मीलापन खो देता हू और जो किरदार होता है जो चरित्र मेरे सामने है जिस मुझे अदा करना होता है—उसीके साचे म ढल जाता हू। इसीलिए अपने निजी जीवन म चाहे मैं शर्मीला रहू लेकिन एक बार कैमरे के सामने आ जाता हू तो उस समय मैं भूल जाता हू कि मैं कौन हू और क्या कर रहा हू। मैं सिर्फ एक ही बात ध्यान म रखता हू कि मैं जो भूमिका अदा कर रहा हू पूरा का पूरा वही बन जाऊ।

इन्दु क्या आपने कभी यह महसूस किया है कि जो भूमिका अपने स्वभाव से मिलती जुलती है वह निभानी ज्यादा आसान है ? जैसे आनद' मे आपकी भूमिका ? या ऐसी कोई बात नही है ?

अमिताभ हा कभी कभी एसा किरदार भी होता है जिसम मैं भूल जाता हू बल्कि कहू कि देखनेवाले या मुझे जानने वाले यह भूल जाते हैं कि मै उससे अलग हू। वह इतना मुझ जैसा होता है। लेकिन एक आर्टिस्ट की हैसियत स तो बडा मुश्किल है कहना । हम लोग हर दिन कम से कम दो या तीन किरदार करते है। एक से दूसरे म जप करना पडता है। सब कुछ बदलता रहता है और उसम फिट होना पडता है। यह कलाकार का धर्म है। और यह कहना कि जो हमारा अपना स्वभाव है निजी रुझान है उसीके मुताबिक हम कोई रोल करना है वही करना अच्छा लगता है —यह बात नही है। हम तो वही करना चाहते है जिसम हमे सबसे ज्यादा मौका मिले नई चीजो का। जो अपनी निजी प्रवृत्ति होती है उसे हम ज्यादातर दबाने की कोशिश करते हैं। उसका अभिनय स कोई सबध नही रहता।

इन्दु एक जमाना था जब आपके पिताजी को फिल्मो मे गीत लिखने और

मा को फिल्मों में अभिनय करने का निमन्त्रण मिला था। उन्होंने तो यह लाइन नहीं चुनी, आपने चुन ली। आप अपने बच्चों के लिए क्या चाहेंगे?

अमिताभ मेरे माता पिता ने मुझपर छोड़ दिया था कि मैं जैसा चाहूँ, करूँ और मैं भी यही चाहूँगा कि मेरे बच्चे भी वही करें, जो वे खुद चाहें।

इन्दु वैसे, अभी तो वे बहुत छोटे हैं। शायद अभी तो यह भी नहीं जाना जा सकता कि वे क्या चाहेंगे।

अमिताभ वैसे, मेरी बेटी मुझे लगता है कि कलाकार बन सकती है। जो उसका ढंग है, जो उसका रूप है, जैसा उसका रवैया है, लगता तो है…

इन्दु आपने अपने पिता से सीखा कि आज जहाँ हो, कल उससे आगे बढ़ो। अपनी फिल्मों को देखते हुए आप क्या कहेंगे कि इसपर आपने कहाँ तक अमल किया है?

अमिताभ यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि हम अपने आपसे लड़ें, खुद अपने को हराने की कोशिश करते रहें यानी हम जो आज करें, उसीको सामने रखकर उसमें कुछ और बेहतर करने की कोशिश करें। अगर हम सिर्फ उन्हीं रास्तों, उन्हीं नियमों पर जाएँगे, जिनपर सारी 'इण्डस्ट्री' जा रही है या जो और लोग कर चुके हैं, कर रहे हैं, उसीका उदाहरण सामने रखेंगे तो आगे बढ़ने की जगह हमारे कदम फिसल सकते हैं।

इन्दु आपने बहुत-सी फिल्मों में बहुत-सी भूमिकाएँ निभाई हैं और अनगिनत संवाद भी बोले हैं। अचानक अपनी किसी लोकप्रिय फिल्म से डायलॉग का एक टुकड़ा बोलने को कहूँ तो कौन-सा सुनाएँगे?

अमिताभ क्या डायलॉग सुनाऊँ? अंग्रेजी का एक छोटा सा टुकड़ा है—दरअसल, 'अमर, अकबर, एन्थनी' का एक गाना रेकार्ड करते समय मुझसे कहा गया कि मैं बीच में कुछ बोलूँ। मुझे कुछ समझ नहीं आ रहा था कि क्या कहूँ… बस, कुछ ऐसे ही अटपट बोल गया

"You see, the whole country of the system is the juxtaposition by the haemoglobin in the atmosphere because you are the sophisticated in the direction investigated by the exuberence of your own audacity"

इन्दु ये सब अटसट हैं? शब्द तो ऐसे हैं कि लगता है, कोई बड़ी गहरी बात कही जा रही है।

अमिताभ जी हाँ, बस कुछ भारी-भरकम शब्द हैं जिनके मानी कोई नहीं।

इन्दु आज जब सिने-जगत् मे आए, उस समय फिल्मो का वातावरण ऐसा था कि हीरो आम आदमी से बहुत मिलता जुलता होने लगा था। लोगो को लगता था कि हीरो हमसे अलग नही है बल्कि हमारे ही जैसा कोई साधारण व्यक्ति है। लेकिन आप तो ऐसे हीरो नही थे। आप आम आदमी से ज्यादा लम्बे, गभीर, आपका उच्चारण कही ज्यादा तराशा हुआ, आपकी आवाज आम आवाज मे कही ज्यादा गहरी छूने वाली। ऐसे वातावरण मे आप नम्बर एक कैसे बन गए ?

अमिताभ सबसे पहले तो मैं एक बात का खण्डन कर दू कि यह नम्बरो का जो सिलसिला है, इसमे मैं कतई विश्वास नही करता। यह कहना कि फला आदमी नम्बर एक है और फला आदमी नम्बर दो—ऐसा लगता है, जैसे हम सब के सब एक जेल मे बंद हो और सबकी जेबो पर एक-एक नम्बर लगा दिया गया हो। तो, सबसे पहले मैं इसका खण्डन कर दू।

दूसरी बात यह है कि जहा तक दर्शको का हीरो से 'आइडेण्टि-फिकेशन' का सवाल है, मेरे खयाल मे पहले जमाने मे आदमी उतना ज्यादा 'आइडेण्टिफाई' नही करता था, जितना अब करता है। इसकी वजह यह है कि आजकल जितने नये कलाकार आए है उन सबका व्यवहार बडा सीधा-सादा और आम फहम है। हमारे तौर तरीके, उठना बैठना सब बहुत सामान्य है और इसके अलावा, मेरे खयाल से, हमारा सपर्क आजकल के नवयुवको के साथ ज्यादा घनिष्ठ है बनिस्बत उस जमाने के जबकि कलाकार और जनता के बीच काफी एक फासला रहता था। इसलिए मैं तो यह बात स्वीकार नही करूगा कि खास तौर पर मेरा 'आइडेण्टिफिकेशन आम जनता के साथ नही हो पाया है क्योकि मैं तो इसका उल्टा ही समझता हू।

इन्दु क्या आप यह नही मानते कि किसी हद तक आप उनके एक आदर्श को पूरा कर रहे हैं ? आप उनका वह सपना हैं जिसमे वे देखते हैं कि हम ऐसे बन पाए—हो पाए। वह आप उनके लिए चित्रपट पर करके दिखाते हैं।

अमिताभ आदर्श तो तभी बनेगा न, जब हम कुछ करके दिखाएगे। वैसे चित्र-पट पर आ जाने से आप फोकस मे आ जाते हैं कलाकार बन जाते हैं और आपकी हर चीज पर ध्यान दिया जाने लगता है। जब हम कुछ नही थे, फिल्म जगत् मे नही आए थे तब तो किसीने हमे अपना आदर्श नही बनाया। उस वक्त उन्होने नही देखा कि हम कुछ करके दिखा सकते हैं। या उस वक्त उन्हे 'आइडेण्टिफिकेशन' नही मिल

रहा था। क्योंकि जब हमने कुछ किया तब उन्होंने उसको देखा, उसको चाहा, उसको सराहा। लेकिन आदमी तो हम वही हैं। छ फुट दो इंच तब भी थे, छ फुट दो इंच अब भी हैं। आवाज वही थी, बोलने का तरीका वही था, काम करने का तरीका वही था।

इन्दु तो आप नहीं मानते कि आप और अभिनेताओं से अलग हैं ?

अमिताभ नहीं। मैं ऐसा नहीं मानता। मैं तो मानता हूं कि हम सब एक ही ढांचे में हैं।

इन्दु कलाकार के नाते आपकी सामाजिक प्रतिबद्धता कितनी है ?

अमिताभ मैं यह कहूंगा कि सिर्फ एक फिल्म-कलाकार को ही ऐसी 'कमिटमेंट' के बारे में नहीं सोचना चाहिए। और न ही उसके ऊपर यह दबाव रहना चाहिए कि साहब, आप ही जनता का कल्याण कर सकते हैं, उसका उद्धार कर सकते हैं—अपनी करतूतों से जो आप फिल्मों में कर रहे हैं। हम बहुत सी चीजें करते हैं जो हमें मालूम है कि हमें नहीं करनी चाहिए। लेकिन मैं समझता हूं कि 'कमर्शियल सेट-अप' (व्यावसायिक ढांचे) और 'सोशल कमिटमेंट' (सामाजिक प्रतिबद्धता)—दोनों में बहुत भारी अन्तर है। हमपर यह इल्जाम लगाया जाता है कि हम लोग आजकल के नवयुवकों को बिगाड़ रहे हैं, उनके मन में कुछ और भावनाएं पैदा कर रहे हैं। शायद सामाजिक प्रतिबद्धता में ही हुई एक तरह से' '?

इन्दु एक तरह से तो—हां।

अमिताभ: तो यह गलत है। मैं बिलकुल समझता हूं कि व्यावसायिकता को अलग रखना चाहिए और सामाजिक प्रतिबद्धता को अलग रखना चाहिए। उसके लिए और बहुत-से लोग हैं। वे भारतवर्ष में हैं उस तरफ देखने के लिए, बजाय इसके कि फिल्म कलाकार ही से यह उम्मीद की जाए कि वह यह भावना पैदा करे।

इन्दु अपनी 'ऐंग्री यंगमैन की इमेज' (क्रुद्ध युवक-छवि) को ही ले लीजिए। इंसान नाराज क्या होता है ? खासतौर में नौजवान क्यों हो जाता है ? जब समाज उसपर ज्यादती करता है तभी वह नाराज होता है। तो, एक तरह से प्रतिबद्ध तो आप हो गए जब इस तरह की छवि आपकी बनी या आपने बार-बार ऐसे नौजवान की भूमिका अदा की ?

अमिताभ. वैसे तो देखिए, गुस्सा किस आदमी में नहीं रहता ? वह तो हर आदमी में रहता है' वर्ना वह तो 'एब्नॉर्मल' आदमी हो जाएगा। और जिसे आप कहते हैं कि वह समाज के विरुद्ध जा रहा है—तो, अगर समाज में कुछ ऐसी बात हो रही है और उसके खिलाफ आदमी खड़ा

हो जाता है तो यह बड़ी 'नार्मल' बात है। हम इसीको फिल्म में दिखा रहे हैं। और उसको जरा बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने की जगह, मैं तो कहूंगा कि जरा सजाकर हम उसे पेश कर रहे हैं।

इन्दु जया भादुड़ी आपकी हो गईं और हमने एक बड़ा महत्त्वपूर्ण, प्रिय फिल्मी कलाकार खो दिया। क्या आप हमें यह तसल्ली दे सकते हैं कि उनके एक अच्छी गृहिणी हो जाने से, अच्छी मां बन जाने से आपके कलाकार को ज्यादा ऊंचाइयों तक पहुंचने में मदद मिली?

अमिताभ बात यह है कि कलाकार के जीवन में जितना श्रेय पत्नी को मिलना चाहिए उतना ही पति को भी मिलना चाहिए। और 'वाइसी वर्सा' —जितना एक पति को मिलना चाहिए उतना ही एक पत्नी को भी मिलना चाहिए। क्योंकि एक कलाकार का गृहस्थ जीवन जब तक सुखी न हो उसमें चैन न हो, घर वापस आए वह और उसे सुख शांति का वातावरण न मिले तो मेरे खयाल से जो छोटा-बड़ा सृजन हम करते हैं सुबह से निकल के वह भी न हो पाए। यह बहुत जरूरी है कि घर के वातावरण में शांति रहे—जिससे हम लोग कैमरे के सामने जाकर जो 'क्रिएशन' करने का प्रयत्न कर रहे हैं, वह पूरी तरह हो सके। दिमाग में अगर कुछ और बातें रहेंगी तो उसमें अधूरापन दिखाई देगा। जया ने मेरा बहुत साथ दिया है, क्योंकि उन्होंने एक मेरा पूरा विभाग संभाल लिया है। और यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण विभाग है क्योंकि इसके बिगड़ जाने से बहुत-सा नुकसान हो जाएगा। इसको सही रखने में शायद इतनी ज्यादा एकाग्रता की जरूरत न पड़े लेकिन बिगड़ने में बहुत कम वक्त लगता है।

इन्दु तो हम यह मानें कि जयाजी किसी सीमा तक वह निभा रही हैं कि जो कहा जाता है

अमिताभ सरटेन्ली सरटेन्ली (अवश्य अवश्य)

इन्दु जहां आप जाते हैं, प्रशंसकों की भीड़ लग जाती है। बच्चे आपको 'डॉन अंकल, डॉन अंकल' कहकर आवाजें देने लगते हैं। कैसा लगता है उस वक्त?

अमिताभ अच्छा लगता है। यह भी अहसास होता है कि जो हम लोगों ने किया, वह कहीं-न कहीं जाकर जनता को छू गया और इससे ज्यादा संतोष हम लोगों को, एक कलाकार को अपने जीवन में, और क्या मिल सकता है?

इन्दु आपको इतनी तरह की बोलियां आती हैं—बनारस की, इलाहाबाद की, लखनऊ की कभी पूरब की तो कभी पश्चिम की बोली बोलते

है आप। और अवधी बोलते हैं। इतनी सारी 'हिन्दियां' कहां से सीख ली ?

अमिताभ देखिए, मेरी पैदाइश इलाहाबाद मे हुई और वहां की तो एक तरह से मातृभाषा अवधी ही है। हरेक आदमी वहां अवधी बोलता है—माली से लेकर लेखक तक। इस माहौल मे मैं पला। बाबूजी से मिलने आने वाले जितने थे, सब अवधी बोलते थे। अवधी मैंने वहां सीखी। सीखी क्या, एक तरह से कहिए कि घर मे सब जिस तरह हिन्दी बोलते है, उसी तरह अवधी भी बोल लेते हैं। और रही इधर-उधर की भाषाएं —तो वे कुछ सुनके, कुछ नकल करके 'इसम तो फिर कलाकार आ जाता है'"।

इन्दु अच्छा, खतरे भी तो है आपके व्यवसाय मे ? शेर मे लड जाते है, चीते से भिड जाते है—कभी पानी मे कूद रहे हैं, कभी आग से निकल रहे हैं।

अमिताभ हा ये खतरे तो उठाने पडते है सबको। मैं यह नही कहता कि सावधानी नही बरती जाती। 'प्रिकॉशस' ली जाती हैं लेकिन इसके बावजूद दुर्घटनाएं हो जाती हैं, चोटें आती है। खतरा तो रहता ही है इस तरह के काम मे। ध्यान रखना पडता है कि किस तरह जानवर को 'हैण्डीकैप' करके, उसपर हावी होकर लडना है लेकिन जानवर तो जानवर है। कुछ पता नही होता कि कब नाराज हो जाए। इसलिए जानवर के साथ खास तौर से, मैं समझता हू कि काफी खतरा बना रहता है।

इन्दु फिल्मो की दुनिया मे स्पर्धा के माहौल के बारे म आप क्या कहेंगे ? खास तौर से आजकल तो 'मल्टी स्टारर' बहुत बनने लगे है। तो, एक ही फ्रेम मे आप हैं और एक दूसरा हीरो है—उस समय क्या होता है ?

अमिताभ : देखिए, बहुत कुछ कहा गया है इस बारे मे कि 'मल्टी-स्टारर' फिल्मो मे दो या तीन हीरो एकसाथ काम करते है तो उनमे जलन और आपसी होड बहुत होती है। एक स्टार अगर बडा है तो दूसरे का कान कटवाने का प्रयत्न करता है। लेकिन सही मायनो मे ऐसा होता नही है। जब हम एकसाथ काम करते है तो पटकथा सुनकर, अपने-अपने रोल समझकर अपनी स्वीकृति देते है। अगर किसी भी कलाकार को बाद मे महसूस हुआ कि उसके साथ अन्याय हुआ है तो यह उसकी अपनी गलती है। अगर उसने 'स्क्रिप्ट' नही सुनी, अपना रोल ठीक से नही सुना तो यह निर्देशक या निर्माता की गलती नही

है। या अन्य कलाकार जो उसके साथ काम कर रहे हैं—उनकी गलती नहीं है। बस, बात यही है कि उसने पहले अपने रोल पर पूरा ध्यान नहीं दिया। और यह कहना कि एक कलाकार दूसरे का रोल कटवा देता है, दूसरे की लाइनें छटवा देता है—यह बिल्कुल वाहियात चीज है।

काटने वाला तो निर्देशक होता है और उसके दिमाग में सिवाय फिल्म की बेहतरी के और कोई सवाल नहीं होता। अगर वह समझता है कि फिल्म की बेहतरी के लिए इतना दृश्य हट जाना चाहिए तो वह कट जाता है। कई बार ऐसा होता है कि हम समझते हैं कि हमने बहुत अच्छा काम किया या बहुत अच्छा शॉट दिया, बडी मेहनत की —लेकिन वह अंतिम 'एडिटिंग' में जाकर कट जाता है। हमें कभी-कभी लगता है कि इस डायरेक्टर ने काट दिया या एडीटर ने काट दिया। लेकिन पूरी फिल्म देखकर निर्देशक या एडीटर ही तय कर सकता है कि अमुक दृश्य या उसमें तालमेल बैठता है या नहीं। अलग से वह टुकडा अच्छा हो सकता है लेकिन चरित्र के विकास की दृष्टि से या फिल्म की पूरी बनावट को देखते हुए अगर वह यह समझता है कि यह ठीक नहीं बैठता और उसे काट देता है तो बुरा नहीं मानना चाहिए।

इन्दु हम यहां बगीचे में बैठे हुए हैं। कभी ऊपर से हवाई जहाज निकल जाता है, कभी बराबर से बस तेजी से गुजर जाती है। तरह-तरह की आवाजें आ रही हैं। खैर, यह तो जिंदगी है। लेकिन इस सारे शोर-शराबे के बीच इंसान के कुछ लम्हे होते हैं जब वह अकेला हो जाता है, उदास हो जाता है और वह इंसान अगर कलाकार भी हो और संवेदनशील हो आपके ये क्षण हिन्दी और अंग्रेजी की कविता बन-कर ढलते रहे हैं। हम कुछ पंक्तियां नहीं सुनाएंगे ?

अमिताभ बहुत जमाना गुजर गया, अब तो मुझे याद नहीं है, लेकिन बाबूजी की कुछ पंक्तियां आप चाहें तो मैं सुना देता हूं। 'रश ऑफ लाइफ' पर उन्होंने एक कविता लिखी है, जो मुझे बेहद पसन्द है

जीवन की आपाधापी में
कब वक्त मिला
कुछ देर कहीं पर बैठ कभी
ये सोच सकूं
जो किया कहा, माना उसमें
क्या बुरा-भला ?

जिस दिन मेरी चेतना जगी
मैंने देखा, मैं खड़ा हुआ हू
इस दुनिया के मेले मे
हर एक यहा पर एक भुलावे मे भूला
हर एक लगा है अपनी-अपनी दे-ने मे

कुछ देर रहा हक्का-बक्का
भौचक्का-सा
आ गया कहा, जाऊ किस जा
फिर एक तरफ से आया ही कुछ धक्का-सा
मैंने भी बहना शुरू किया उस रेले मे·

अफसाना लिख रही हूं : जैकलिन

इतिहास जिसे तारीख मात्र बनाने पर तुला हुआ है, जिसे व्यक्ति नहीं, सामाजिक मूल्यों की तराजू पर दिन-रात तौला जाता रहा है—उसकी दास्तान कुछ तारीखों के ताल-मेल से शुरू हो, तो इसम ताज्जुब क्या ?

विश्व के इतिहास म २० अक्तूबर १९६२ एक बडीतारीख थी जब मेरे पति जॉन कैनेडी ने यह निर्णय लिया था कि क्यूबा म भेजे रूसी मिसाइलो को ध्वस्त करना है।

आठ वर्ष बाद फिर २० अक्तूबर, दो व्यक्तियों के जीवन की सुनहरी तिथि बनकर सारे विश्व म अजब-अजब रगो म कौंध गई, क्योंकि मैंने (यानी—श्रीमती कैनेडी ने) ग्रीस के ६२ वर्षीय एरिस्टॉटल सॉक्रेटीज ओनासिस से विवाह कर लिया।

इन दोनो तारीखो म नायक कैनेडी ही हैं—प्रत्यक्ष रूप से या परोक्ष रूप से। अपने ३९ वर्षीय जीवन के आठ विवाहित वर्षों मे मुझे भी निरतर यही लगा कि मैं एक छाया बनकर रह रही हू। एक प्रभावशाली और शहीद राष्ट्रपति की पत्नी होना अपने आपमे ही चर्चाओ का कारण बन सकता है। परतु लोग कहते हैं कि मेरी अपनी भी विशेषताए कुछ कम नहीं। मैं—अमेरिकी इतिहास की दूसरी युवा 'फर्स्ट लेडी' थी और कहा जाता है कि सुदरता और बुद्धिमत्ता के इस सयोग में मेरा कोई सानी नहीं, तभी तो राष्ट्रपति कैनेडी का साया उठ जाने के बाद भी जनता लगभग दो हजार पत्र प्रति सप्ताह मुझे लिखती रही! इतने पत्र तो राष्ट्रपति ट्रूमैन और आइजन हॉवर को भी कभी न लिखे गए, किन्तु आज जिस तथ्य *को एक अप्रत्याशित घटना के सहारे उभारा जा रहा है*, उसे 'व्हाइट हाउस' के बोझिले गौरव मे दबे रहने के दौरान किसीने कहने का साहस नहीं किया, वह यह कि जैकलिन को राजनीति से कभी दिलचस्पी नहीं रही। उसे तो शौक है साहित्य

का, इतिहास का, कलाओं का···।

जो एक व्यक्ति सबसे पहले मेरे इस मानसिक भटकाव को समझ पाया, वही मेरा जीवनसाथी बन गया। एरिस्टॉटल सॉक्रेटीज ओनासिस में जहां मुझे अरस्तू का विवेचन और सुकरात की बुद्धिमत्ता नजर आती थी, वहीं उसमें यूलिसिस की भ्रमण-प्रवृत्ति भी थी। साथ में था अदम्य उत्साह जिसे लेकर वह सोलह वर्ष की किशोर वय में ही सिर्फ अस्सी रुपये जेब में डालकर अर्जेंटीना पहुंच गया था। वहां वह रात को टेलीफोन ऑपरेटरी करता और दिन में तम्बाकू की दलाली। धीरे-धीरे भाग्य का सितारा ऐसा चमका कि पच्चीस साल की आयु में ओनासिस सप्तपति बन गया—एक विशाल जहाजी बेड़े का स्वामी।

मैंने ओनासिस से शादी क्या की, मानो एक आफत मोल ले ली। चारों तरफ से कटूक्तियों की बौछार आ पड़ी। एक मित्र ने कहा, *"यह अविश्वसनीय है। ओनासिस निहायत गवार है। बेहद भद्दा और स्थूल।"* पेरिस के एक समाचार-पत्र-विक्रेता ने आवाज लगाई, "कैनेडी-परिवार की ताजी दुर्घटनाएं··· " लंदन के एक अखबार ने जैसे दुनिया के टूटे हुए दिल की दास्तान ही कह डाली, "जैकी, तुम कैसे कर पाई ?" और हॉलीवुड के बॉब होप ने अपना व्यग्य-बाण छोड़ा, 'निक्सन के सामने एक ग्रीक उम्मीदवार जो खड़ा हुआ है," एक अमेरिकी सवाद-दाता का कहना था, 'अमेरिकी पुरुषत्व को पहला गहरा धक्का चर्च हारकर में लगा था और दूसरा इस शादी ने पहुंचाया है।"

ये सारे विवाद जो सिर उठाए हुए थे, एक दिन शांत हो जाने चाहिए थे। धीरे-धीरे लोगों को समझ में आना था कि मेरा विवाह कोई राजनीतिक मसला नहीं। वह एक नितात निजी मामला था। ओनासिस, कैनेडी-परिवार के पुराने मित्र रहे थे। जॉन कैनेडी व रॉबर्ट कैनेडी की हत्या के दुखभरे क्षणों में परिवार वालों के अतिरिक्त वे ही पहले व्यक्ति थे जो सात्वना देने तत्काल आ पहुंचे थे। १९६३ में लंबी बीमारी के बाद उनकी ही नौका 'क्रिस्टीना' पर मैंने काफी अरसे तक स्वास्थ्य-लाभ किया था।

'क्रिस्टीना' की कहानी भी बड़ी रोचक है। ३२५ फुट लंबा यह समुद्री महल। इसके संगमरमरी नाव-फर्श पर उतर चुके हैं एलिजबेथ टेलर और रिचर्ड बर्टन, राजकुमारी मार्गरेट और लॉर्ड स्नोडन, ग्रेस केली और राजकुमार रेनिअर, मेरी ग्राण्ट और सर विंस्टन चर्चिल। अनुदार आलोचकों ने कहा कि ओनासिस को हीरे-जवाहरात से लेकर प्रख्यात व्यक्तित्व तक, सभी कुछ संग्रह करने का शौक है और इस संग्राहक की नवीनतम उपलब्धि मैं हूं। शायद वे आलोचक नहीं जानते, या जानकर अनजान कर देते हैं—ओनासिस के विचित्र आकर्षण को, सम्मोहन की अगाध शक्ति को। ओनासिस जब किसीको अपनाना चाहते हैं तो उनके रोम-रोम से, हर मुद्रा, हर कार्य से आकर्षण के झरने फूट पड़ते हैं। लेकिन क्या यह

उनका दुगुण है ? किसीक स्वाभाविक सफल प्रयत्ना को हृथकड मान लेना उस व्यक्ति के प्रति घोर अयाय है।

हा तो मैं बता रही थी उस आनद-नौका के बारे म। जल और स्थल पर यह ससार का एक अद्वितीय वैभवशाली निवास था। यहा बयालिस टेलीफोन सारी दुनिया स सपक स्थापित करन को सदा तैनात रहत थ। पचास चुस्त चालक इसकी सवा करते थे और इसके डॅक पर दो इजिन वाला हवाई जहाज किसी भी क्षण मेरी खाने की मेज को मनपसद केक पेस्ट्री से भरपूर करके मेरे चरणो पर सारी दुनिया क नायाब फूल उडलने को सदा तैयार खडा रहता था।

और मेरे विवाह की वह सुबह—हालंड से आए मना टयूलिपि और नीबू की कलियो की खुशबू म बसी। केवल चालीस मित्र याते गए थे—शायद पच्चीस मौजूद भी थ। हम वर वधू इस अवसर पर एकात चाहते थे और विज्ञापन स बतरा रहे थे परतु दो सौ पचास पत्रकारो की फौज हमारा सुरक्षा-कवच तोडने को बेचैन थी। पत्रकारो म एक हेलिकाप्टर ने हिम्मत करक उडान भर ही ली लेकिन क्षण भर मे ओनासिस के हेलिकाप्टरो न हवा म गोता मार उस खदेड दिया। फिर पत्रकारो स लदी दस नावो न द्वीप पर धावा बोल दिया। मेरे अनुरोध पर उन्ह द्वीप का घेरा डाल लेने दिया गया ताकि वे दूर स विवाह की चहल पहल देख सकें। किन्तु जैसे ही उन्होन घुसपैठ करनी चाही ओनासिस की जल सुरक्षा को उन्ह भगाना पडा। एक पत्रिका के फोटोग्राफर महोदय ने तो पैराशूट स भी नाव पर उतरने की कोशिश की थी।

विवाह भेंट म अरी (एरिस्टाटल को दिया अमेरिकी नाम) ने मुझ चौबीस कैरेट सोने के दो कगन दिए जिनम एक बड बड माणिक और हीरो से जडा था और दूसरे की कारीगरी ईस्वी पूव चौथी शताब्दी के ग्रीक कगन की अनुकृति थी। इसक अतिरिक्त ५०० वग मील के स्कारपियो द्वीप पर—जिसका स्वामी मेरा स्वामी ओनासिस था—एक सौ आठ कमरो वाला एक महल विवाह भेंटस्वरूप और एक सौ पचास कमरो वाले न्यूयाक का फ्लैट मेरे नाम हो गया।

मैं जानती हू—मेरे इस वक्तव्य को पढकर सब मुसकराएगे। ओनासिस से शादी करने की जो वजह आपने सोची थी यानी मेरा वैभव प्रेम सही निकली। ठीक ही तो है ! मैं सुख सुविधा—आराम क्या न चाहू ? क्यो न मेरी इच्छा हो कि हर सभव असभव वैभव सपदा मेरे पैरो म लोट ? मेरी आदतें हमेशा से खर्चीली थी—ठीक ही कहा है आलोचको ने। जब मैं व्हाइट हाउस की फस्ट लेडी थी तब भी मेरे वस्त्रो मात्र पर तीन लाख पचहत्तर हजार रुपये प्रतिवष खच होते थे। और शायद यह भी ठीक ही कहा है कि अमेरिका स मेरा कोई आत्मिक लगाव नही था। मेरी अधिकतर पढाई लिखाई फ्रास म हुई देखा जाए तो अमेरिका ने मेरे फ्रासीसी खान पान को कभी पसद नही किया। फ्रासीसी वेशभूषा के प्रति

मेरी रुचि की हमेशा आलोचना होती थी और किसी हद तक मुझे 'गद्दार' माना जाता था। मैं नाचना चाहती थी। गाना चाहती थी और अमेरिका ने मुझे वैधव्य के काले कपडे पहनाकर तपस्या के ऊंचे मच पर बैठाना चाहा। देवो और दानवो के युद्ध मे पहले इस देश ने मेरे पति जॉन की आहुति ली और फिर मेरे देवर बॉबी की। मेरा क्या कसूर कि मेरे धीरज का बांध टूट गया और मैं इस तपस्या की निरर्थकता से घबराकर, अपने 'निज' की रक्षा करने पख फैलाकर उड गई'।

'लेकिन नही, भावावेश मे कही गई ये बातें सच नही है। अपने देश से मुझे कोई नाराजगी नही। जॉन कैनेडी ने जो महानता मुझे दी, उसे मैंने हमेशा कृतज्ञ होकर स्वीकारा। बिटिया केरोलिन की उदासी भी मेरे मन को बेंध बेंध जाती थी, मेरे अतस्तल मे जो चारो तरफ के खिंचाव था, भाग्य की निर्दय चालें जो मैंने सही हैं—उन्होने मुझसे यह सब अनर्गल कहला दिया।

इन सबम अगर कोई बात सच है तो सिर्फ इतनी कि मैं राजनीतिक चर्चाओ स ऊब जाती थी। मेरे मित्र जानते हैं कि मुझे शौक है सगीत का, पुस्तकों का, कला-कृतियों का।—न्यूयार्क वाला घर मेरे बनाए अधकचरे किन्तु उत्साही चित्रो से भरा हुआ है।—और मुझे खास तौर स शौक है—अपने बच्चो का, उनके सदा साथ खेलने का, उनके विकास म हाथ बटाने का। ओनासिस से विवाह के बाद मैं सोचती थी कि अब मैं वह सब कर पाऊगी और मेरी रूठी बिटिया भी जब मेरी बात समझ लेगी तो जरूर मान जाएगी। हा, एक काम और बेहद मेरी रुचि का—घूमना, भ्रमण। मैं खूब घूमना चाहती हू, नये अनुभव पाना चाहती हू, बिना किसी पति रूपीपुरुष 'अभिभावक' के ही। पाच वर्षो मे मैं आयरलैंड, स्पेन, इटली, स्विट्जरलैंड, हवाई, मेरीनियन, कनाडा, ग्रीस, मेक्सिको और कम्बोडिया का भ्रमण कर चुकी थी।

मेरे पति ओनासिस की भी समान रुचिया थी। वे साधारण व्यक्ति नही। उन्होने अपनी शिक्षा स्वय अर्जित की, शास्त्रीय ग्रीक का गहरा अध्ययन किया। वे इतिहास के ज्ञाता थे और जो भाषाए वे अधिकारपूर्वक बोल सकते थे, वे थी—ग्रीक, तुर्की, अग्रेजी, स्पेनिश, फ्रेंच और इतालवी। जीवन-यापन पद्धति मे कहा जा सकता है कि वे निशाचर थे। मद्यपान के लिए केवल रात सुरक्षित रही और व्यापार हो या विनोद—शाम से शुरू हुई कड़ी, सुबह के चार बजे से पहले कभी ही टूटती होगी। दिन भर एक जर्जर अटैची और लाल रग की अपाएण्टमेंट बुक लिए वे ससार का भ्रमण करते, पेरिस, ब्यूनस, आयर्स, मॉन्ते विदाओ, मॉन्ते कार्लो और न्यूयार्क मे उनके महल थे और उन्होने ओलम्पिक एयरवेज के चार्टर अधिकार सन् २००४ तक के लिए ग्रीक सरकार से लिए हुए थे। उनकी सपत्ति होटलो, बैंको और बदरगाहो मे बंटी हुई थी, परतु अकेला तेल का कारोबार पर्याप्त आमदनी का साधन था। स्व-विवेचन के एक किसी क्षण मे उन्होंने एक बार अपने को

मजदूर कहा था, "मैं तो एक कुली हू तेल ढोने वाला, यहा से वहा।"

क्या उनके इस बयान से आपको नही लगता कि वे कोमल-हृदय और भावुक व्यक्ति थे? लॉर्ड मार्गन ने चर्चिल की जीवनी मे ओनासिस का जिक्र करते हुए कहा है, "उनका सिद्धात था कि अपने निकटतम सबधी को भी त्याग देना चाहिए —यदि उससे कोई लाभ नही उठाया जा सकता," मुझे उनके चरित्र मे ऐसा कुछ कभी नहीं दिखा। मैं दूसरे की कही बात को अपने अनुभव से अधिक महत्त्व क्यों दू?

कुछ लोगो ने मनोवैज्ञानिक पहलू से इस रिश्ते को पढने की कोशिश की, वे कहते थे कि मै अपने पिता से बेहद प्यार करती थी और वे मेरे आदर्श थे। उनकी मृत्यु पर मैंने जो कहा, उसे भी कई जगह उद्धृत किया गया—'ऐसा छा जाने वाला व्यक्तित्व दूसरा नही हो सकता।' 'जैकलिन' ने ओनासिस मे पिता की प्रतिच्छवि ढूढी है। मैं क्या कहू! मैं कोई मनोविशेषज्ञ नही—एक साधारण व्यक्ति की हैसियत से इस व्याख्या पर केवल मुसकरा सकती हू।

मेधावी ग्रीक सोचते थे कि हमारी शादी के बाद सैनिक-विद्रोह से भयभीत जनता राहत व सतुलन पाएगीऔर ग्रीस का पर्यटन-व्यापार फिर से अगडाई लेकर जाग उठेगा। ये सारे भुलावे उतने ही बचकाने और असभ्य थे जितना कुछ 'दूर-दर्शियों' का यह कहना कि वह विवाह मैंने इसलिए किया कि सन् १९८३ मे मेरा बेटा जॉन अमेरिका के राष्ट्रपति पद के लिए खडा होगा और चुनाव म ओनासिस की अपार धनराशि पानी की तरह बहा सकेगा।

मैंने जितना ही इन सवालो-जवाबो, आरोपो-आक्षेपो से बचना चाहा, उतना ही मुझे इनका शिकार बनना पडा। ओनासिस के साथ अभी पाच वर्ष भी नही बीत पाए थे कि वे इन अजीबोगरीब दखल अदाजियो-भरी दुनिया छोडकर स्कार्पियोस टापू पर अपने पुत्र की कब्र की बगल मे हमेशा के लिए सो गए। उनके आखें मूदने के साथ ही अखबारो की क्रूर जिज्ञासा एक नई दिशा मे आखें खोलकर खडी हो गई।

सम्पत्ति, बेशुमार धनदौलत, वसीयत! एक बेहूदा रस्साकशी का अक्स समाचारपत्रो म उतरने लगा। एक तरफ ओनासिस के वारिस, दूसरी ओर जॉन कैनडी की सतानें और उनके बीच खडी खिचती मैं। खिचती नही, खीची जाती हुई। बार-बार ओनासिस परिवार के 'हितैषी' अखबारो के माध्यम से मुझे सकेत देते जान पडते कि मैं एक लबी-चौडी वार्षिक अनुदान-रकम के बदले जायदाद के सारे अधिकार छोड दू। उनके लिए मैं हमेशा 'बाहर का व्यक्ति' रही। उनके अनुसार मैंने ओनासिस को अपना रूप और यौवन बेचा था। अमेरिका के राष्ट्रपति की पत्नी रहने के नाते एक विचित्र आकर्षण कुख्याति ओनासिस को दिलाने का सौदा किया था—अब मैं उसकी भरपूर कीमत ले लू और खानदान की गरिमा के सूर्य पर

लगे ग्रहण की तरह हट जाऊं।

जिन्होंने मुझे हमेशा सिर्फ एक सर्चीली आदतों वाली, दिलफेंक मोम की गुड़िया समझा है, उनके अनुसार मेरी विध्वस-कहानी अभी खत्म नहीं हुई है। मैं जानती हू कि जब तक मेरा चेहरा झुर्रियों स भर नहीं जाएगा मेरे केश सन की तरह सफेद नहीं पड जाएगे, मेरी कमर झुक नहीं जाएगी— दुनिया को तसल्ली नहीं होगी। मेरा नाम न जाने कितनों के साथ अभी जोड़ा जाएगा। मेरे मातृत्व को कितनी ही बार धिक्कारा जाएगा—मेरे रूप को सर्प का दश बताया जाएगा

इस ससार ने न जाने कितने प्रश्नों की बौछार मुझपर की है। अब मैं भी कर एक बार एक प्रश्न इससे करने का मौका चाहती हू। हानि-लाभ के अदाजे नैतिकता के ऊहापोह, विज्ञापन और चर्चाए। दृष्टिकोण-वक्तव्य—ये सब क्या वाजिब है ? मेरा अपराध यही है न कि मुझमे एक असाधारण आकर्षण है जिसने दुनिया के दो चोटी के असाधारण पुरुषों को मत्रमुग्ध कर लिया, क्या इसीमे हर एक को यह अधिकार मिल गया कि वे मेरी जिन्दगी की अतर्तम बखिया सरे-बाजार उधेडते रहे ? मेरी नितात निजी हर भावना की व्याख्या और शव-परीक्षा कर डालें ? क्या वे कभी नही समझेंगे कि मैं एक व्यक्तिगत इकाई हू, जिसके जीवन की शाति विज्ञप्तियों के अभिशाप से दूर रह पाने में है· ·!

फ़ेरर का प्रस्थान : आंसू या मुसकान ?

स्पेन के विन्सेण्ट फेरर, सन् १९५२ में भारत आए। सन् १९५८ में उन्हें मनमाड का पादरी नियुक्त किया गया। इस पादरी ने उपासना का प्रमुख माध्यम बनाया—सेवा-कार्य। सेवा का क्षेत्र था—वहां के किसान। फादर फेरर ने किसानों की सहायता रुपये-पैसे से ही नहीं की, स्वयं भी वे चोगा उतार, बुशशर्ट-पैण्ट पहन उनके काम में हाथ बटाते दिखाई देते थे। नतीजा : मनमाड के खेत लहलहाने लगे, फी एकड़ पैदावार बढ़ी और किसान ने ऋण के बोझ से राहत पाई।

अपनी सेवा और सहज प्रवृत्ति से उन्होंने किसानों का दिल जीत लिया। एक रात जब वे मनमाड-बम्बई-मार्ग स्थित एक छोटे-से पड़ाव पर बैठे अपना टिफिन खोल ही रहे थे, उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति मुट्ठी-भर तिनके से अपनी क्षुधा शांत करने का प्रयत्न कर रहा है। उनका दिल पिघल गया और तत्काल उन्होंने उस व्यक्ति को अपने खाने में भागीदार बना लिया। दया और सहृदयता की अनेक कहानियां इस व्यक्तित्व के साथ जुड़ती चली गईं।

उन्होंने बच्चों के लिए बोर्डिंग स्कूल की स्थापना की जिसकी गिनती महाराष्ट्र के बड़े स्कूलों में है। फिर उन्होंने दो हाईस्कूलों की भी स्थापना की जिनमें १५०० लड़के लड़कियां अध्ययन कर रहे हैं। इनमें ८०० छात्रों के रहने का भी प्रबन्ध है और ये बच्चे केवल १० रुपये देकर शिक्षा आदि पाते हैं।

उन्होंने एक मेडिकल यूनिट जारी किया जिसने बाद में एक डिस्पेंसरी के रूप में ग्रामीणों की सेवा की और फिर वह ५५ चारपाई वाला अस्पताल बन गया जहां इनके अतिरिक्त प्रतिदिन २०० बाहर के मरीजों की दवा-दारू व देख-रेख का प्रबन्ध किया गया।

पादरी फेरर ने १९६६ की सूखा-ग्रस्त जनता की सहायतार्थ क्षेत्रकारी 'सेवा

मण्डल' की स्थापना की। मण्डल ने इस काम के लिए ५०,००० रुपये इकट्ठे किए और ६८६ गांवों में १०७३ कुएं खोदे, ७८२ नल लगाए, १६४ टयूबवैल गाडे तथा ४५६२ टन खाद और ५००० क्विटलबीज बांटे। इसके अतिरिक्त ४१ मील लम्बी सड़क से तीन ताल्लुका के १० स्थानों को जोड़ा।

और दो साल की इस लगातार सेवा के बाद भगवान पादरी से रुष्ट हो गए। अप्रैल, १९६७ में महाराष्ट्र सरकार ने उन्हें देश छोड़ने का आदेश दिया जिसमें न तो कोई दोषारोपण था और न ही शिकवे का कारण। पादरी की भारतीय नागरिकता अपनाने की अपील भी अनसुनी कर दी गई।

फादर फेरर पर इलजाम लगाया गया कि उन्होंने हिन्दुस्तान का धर्म बदला है। फेरर ने चुनौती दी कि अगर एक भी हिन्दू या मुसलमान यह कह भर दे कि उसने मेरे कारण ईसाई धर्म अपनाया है तो मैं उसी वक्त अपना बिस्तर-अटैची उठा भारत छोड़कर चला जाऊंगा।

वैसे ईसाई धर्म से सम्बन्धित संस्थाओं से हमें कोई खास एतराज नहीं रहा है। उस समय के दिल्ली के मिशनरी स्कूलों की ही एक झांकी लें। उनकी संख्या आठ थी। इनमें कुल विद्यार्थी १२,४३१ थे जिनमें से १५३० ईसाई थे। बाकी ८७.७ प्रतिशत में से अधिकतर हिन्दू थे। छात्रों में शामिल थे भारत के राष्ट्रपति, स्वर्गीय लालबहादुर शास्त्री उपराष्ट्रपति दिल्ली के लफ्टिनेण्ट गवर्नर और कम से-कम आठ केन्द्रीय मन्त्रियों के बेटे-पोते। संसद सदस्य, राज्याधिकारी और मिलिटरी के उच्च पदाधिकारियों के कॉन्वेण्ट शिक्षार्थी बच्चों की संख्या हजारों में पहुंचती थी। खैर, यह दूसरी बात है।

फादर फेरर पर दोष लगाया गया कि मनमाड पंचायत चुनाव में उन्होंने कुछ ज्यादा ही दिलचस्पी दिखाई और अपने लिए राजनीतिक क्षेत्र पैदा करने की कोशिश की। उनके क्षेत्रवारी सेवा मण्डल का किसी भी प्रकार का सम्बन्ध जिला विकास कार्यालय से नहीं है इस तथ्य को लेकर उनपर समानान्तर सरकार चलाने का दोषारोपण किया गया।

इन इलजामों के जवाब में पादरी ने बस यही कहा कि उनकी कोई समानान्तर सरकार नहीं है। उन्होंने तो सिर्फ कुएं खुदवाने और सड़कें बनाने का समानान्तर कार्य किया है। उन्होंने यह भी कहा कि इन दोषों की उचित और खुली छानबीन होनी चाहिए और छानबीन के फलस्वरूप कोई तथ्य मिलता है तो वे कानून के हाथों अपने को सौंपने को तैयार हैं।

यह भी चर्चा हुई कि फादर फेरर की गतिविधियों के पीछे किसी विदेशी सत्ता और पैसों का हाथ है। यह मानना कि इतना धन वह गुप्त शक्ति केवल मुट्ठी भर विदेशी किसानों की भलाई में लगा रही है बचपना होगा। पादरी तक धन के पहुंचने के साधनों की ओर भी संकेत किए गए।

फ़ेरर का प्रस्थान : आंसू या मुसकान ?

स्पेन के विस्सेण्ट फेरर, सन् १६५२ मे भारत आए। सन् १६५८ मे उन्हे मनमाड का पादरी नियुक्त किया गया। इस पादरी ने उपासना का प्रमुख माध्यम बनाया—सेवा-कार्य। सेवा का क्षेत्र था—वहा के किसान। फादर फेरर ने किसानो की सहायता रुपये-पैसे से ही नही की, स्वय भी वे चोगा उतार, बुश्शर्ट-पैण्ट पहन उनके काम मे हाथ बटाते दिखाई देते थे। नतीजा : मनमाड के खेत लहलहाने लगे, फी एकड पैदावार बढी और किसान ने ऋण के बोझ से राहत पाई।

अपनी सेवा और सहज प्रकृति से उन्होने किसानो का दिल जीत लिया। एक रात जब वे मनमाड-बम्बई-मार्ग स्थित एक छोटे-से पडाव पर बैठे अपना टिफिन खोल ही रहे थे, उन्होने देखा कि एक व्यक्ति मुट्ठी-भर चिवडे से अपनी क्षुधा शात करने का प्रयत्न कर रहा है। उनका दिल पिघल गया और तत्काल उन्होने उस व्यक्ति को अपने खाने म भागीदार बना लिया। दया और सहृदयता की अनेक कहानिया इस व्यक्तित्व के साथ जुडती चली गई।

उन्होने बच्चो के लिए बोर्डिंग स्कूल की स्थापना की जिसकी गिनती महाराष्ट्र के बडे स्कूलो मे है। फिर उन्होने दो हाईस्कूलो की भी स्थापना की जिनमे १५०० लडके-लडकिया अध्ययन कर रहे हैं। इनमे ८०० छात्रो के रहने का भी प्रबन्ध है और ये बच्चे केवल १० रुपय देकर शिक्षा आदि पाते है।

उन्होने एक मेडिकल यूनिट जारी किया जिसने बाद मे एक डिस्पेंसरी के रूप म ग्रामीणो की सेवा की और फिर वह ५५ चारपाई वाला अस्पताल बन गया जहा इनके अतिरिक्त प्रतिदिन २०० बाहर के मरीजो की दवा-दारू व देख-रेख का प्रबन्ध किया गया।

पादरी फेरर ने १६६६ की सूखा-ग्रस्त जनता की सहायतार्थ क्षेत्रकारी 'सेवा

मण्डल' की स्थापना की। मण्डल ने इस काम के लिए ५०,००० रुपए इकट्ठे किए और ६८६ गावो मे १०७३ कुए खोदे, ७८२ नल लगाए, ११४ ट्यूबवैल गाडे तथा ४५६२ टन खाद और ५००० क्विटल बीज बाटे। इसके अतिरिक्त ८१ मील लम्बी सडक से तीन तालुको के १० स्थानो को जोडा।

और दो साल की इस लगातार सेवा के बाद भगवान पादरी स रुष्ट हो गए। अप्रैल, १९६७ म महाराष्ट्र सरकार ने उन्हे देश छोडने का आदेश दिया जिसम न तो कोई दोषारोपण था और न ही शिकवे का कारण। पादरी की भारतीय नागरिकता अपनाने की अपील भी अनसुनी कर दी गई।

फादर फेरर पर इलजाम लगाया गया कि उन्होने हिन्दुस्तान का धर्म बदला है। फेरर ने चुनौती दी कि अगर एक भी हिन्दू या मुसलमान यह कह भर दे कि उसने मेरे कारण ईसाई धर्म अपनाया है तो मैं उसी वक्त अपना बिस्तर-अटैची उठा भारत छोडकर चला जाऊगा।

वैसे ईसाई धर्म से सम्बन्धित सस्थाओ से हम कोई खास एतराज नही रहा है। उस समय के दिल्ली के मिशनरी स्कूलो की ही एक झाकी लें। उनकी सख्या आठ थी। इनम कुल विद्यार्थी १२,४३१ थे जिनम स १५३० ईसाई थे। बाकी ८७ ७ प्रतिशत म स अधिकतर हिन्दू थ। छात्रो म शामिल थे भारत के राष्ट्रपति, स्वर्गीय लालबहादुर शास्त्री उपराष्ट्रपति, दिल्ली क लेफ्टिनेण्ट गवर्नर और कम-स-कम आठ केन्द्रीय मन्त्रियो क बेटे पोते। ससद सदस्य, राज्याधिकारी और मिलिटरी के उच्च पदाधिकारियो के कॉन्वेण्ट शिक्षार्थी बच्चो की सख्या हजारो म पहुचती थी। खैर, यह दूसरी बात है।

फादर फेरर पर दोष लगाया गया कि मनमाड पचायत चुनाव म उन्होने कुछ ज्यादा ही दिलचस्पी दिखाई और अपने लिए राजनीतिक क्षेत्र पैदा करने की कोशिश की। उनके क्षेत्रकारी सेवा-मण्डल का किसी भी प्रकार का सम्बन्ध जिला विकास कार्यालय से नही है, इस तथ्य को लेकर उनपर समानान्तर सरकार चलाने का दोषारोपण किया गया।

इन इलजामो के जवाब म पादरी ने बस यही कहा कि उनकी कोई समानान्तर सरकार नहा है। उन्होने तो सिर्फ कुए खुदवाने और सडकें बनाने या समानान्तर कार्य किया है। उन्होने यह भी कहा कि इन दोषो की उचित और खुली छानबीन होनी चाहिए और छानबीन के फलस्वरूप कोई तथ्य मिलता है तो वे कानून के हाथो अपने को सौंपने को तैयार हैं।

यह भी चर्चा हुई कि फादर फेरर की गतिविधियो के पीछे किसी विदेशी सस्था और पैसो का हाथ है। यह मानना कि इतना धन वह 'गुप्त शक्ति' केवल मुट्ठी भर विदेशी किसानो की भलाई म लगा रही है, बचपना होगा। पादरी तक धन पहुचने के साधनो की ओर भी सकेत किए गए।

पादरी का उत्तर स क्षिप्त था कि उन्होंने किसी अवैध पैसे का उपयोग नही किया है। जो भी पैसा उन्हें बाहर से मिला, वह विदेशी मुद्रा के रूप में रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया को मिला जिसे बैंक ने पादरी को रुपयों मे अदा किया।

वैसे 'मण्डल' की जमा पूंजी जो आज ७६ लाख से ऊपर है, जरा समझ लें, कहा से एकत्र हुई है। स्थानीय किसानो का योगदान ८ लाख, कैथलिक रिलीफ सर्विसेज ३८ लाख, भारत जर्मन सोशल सर्विस सोसायटी १८ लाख और भारतीय कैथलिक सेवाओ द्वारा १० लाख। इनके अतिरिक्त स्पेन, पश्चिम जर्मनी और भारत के अन्य संस्थानो ने भी अपना योगदान दिया है।

यो तो सब बहुत स्पष्ट और सीधा! किन्तु फादर फेरर के विरोधी भी अपने को 'धर्म' के अनेक रूपो और तहों का माहिर समझते हैं। 'उदारता' पर सदेह करना आज के युग म न तो क्षुद्रता है और न ही अनैतिकता बल्कि अक्सर कूट-नीति इसे आवश्यक बना देती है।

हवा दोषारोपण से बोझिल हो गई। फेरर की सफाइया भी वातावरण म मडराती रही किन्तु भारत सरकार ने खुले मे आकर न अपनी छानबीन के नतीजे जनता के सामने रखे, न ही कोई मुकदमा चलाया। या कि कह—किसी कारण-वश स्पष्टीकरण करना भी ठीक नहीं समझा।

माना कि सरकार की अपनी जिम्मेदारिया और फैसले है लेकिन ससार के सबसे बडे गणतन्त्र मे क्या जनता को यह जानने का भी अधिकार नहीं कि वर्षों तक प्रतिष्ठा पाते एक गण्यमान्य सुधारक को यो क्यो खदेडा गया? क्या कम-स कम उस किसान को भी यह समझने का हक नहीं कि उसके 'प्यारे मसीहा' ने कौन सा देशघाती अपराध कर डाला?

और अब जनता की अस्थिरता व अस्तित्वहीनता का एक रोचक नमूना! फादर फेरर के देश निष्कासन आदेश के बाद मनमाड म अपार जनता की बडी हडताल होती है कि फेरर को देश से क्यो निकाला जा रहा है?

और जब उन्हे सिर्फ दो माह और भारत म रहने की छूट दी जाती है तो फिर अपार जनता की एक बडी हडताल होती है कि उन्हे देश मे क्यो रहने दिया जा रहा है?

इन दो अप्रैलो के बीच क्या घट गया कि फादर फेरर हमारे लिए हौआ बन गए? पी० टी० आई० का यह समाचार शायद हमारी इस गुत्थी को सुलझाने म मदद करे :

'नई दिल्ली, मई ३, १९६८। तीन ससद सदस्यो न प्रधानमन्त्री स अनुरोध किया है कि वे फादर फेरर समस्या पर 'गुप्त और स्वच्छन्द' जाच करें ताकि शिव सेना इस जाच को दूषित न कर पाए।'

अन्ततः उनको २६ जून, १९६८ को भारत छोडने का आदेश दे दिया गया।

मण्डल' के गोदामों में ९८१ बारूद के विस्फोटक और २५८ किलो जिलेटीन की मौजूदगी ने इस तिथि पर मानो मुहर लगा दी। ये दोनों ही वस्तुएं कुआं खोदने के काम आती हैं। सरकार इस सामग्री के 'पकड़े जाने' पर आश्चर्य व रोष प्रकट करती है। फादर फेरर लाइसेंस दिखाकर अपनी मासूमियत की गवाही पेश करते हैं। साथ ही यह भी कहते हैं कि "यदि मेरा कृत्य गैरकानूनी था तो कोई पुलिस-केस मुझपर क्यों नहीं हुआ?"

फिर सरकार बयान देती है कि यह सामान नासिक से बरामद किया गया और फादर बयान देते हैं कि वह नियमानुसार मनमाड के एक गोला-बारूद गोदाम में सुरक्षित है न कि नासिक में।

समाचारपत्र सब बयान छापकर बेबाकी से अलग खड़े हो जाते हैं और नागरिक असमंजस में त्रिशंकु बना लटकता रहता है।

खैर, यदि फेरर देश की सुरक्षा में बाधक थे तो अब उन्हें इस देश से बाहर कर दिया गया है। कहानी खत्म हो चुकी है। कुछ ने सरकार की ढुलमुल नीति और एक सदाशय व्यक्ति पर किए 'अत्याचार' की कड़ी भर्त्सना की। कुछ ने 'मजबूत हाथ से एक ही झटके में कांटा उखाड़ फेंकने' वाले शासन की प्रशंसा की। किन्तु दोनों ही पक्षों के मुंह खुले रह गए जब फादर फेरर के प्रस्थान की अगली भोर ही अब तक मौन केन्द्रीय सरकार ने देववाणी की और कहा कि यदि फादर फेरर फिर भारत आना चाहें तो महाराष्ट्र के अतिरिक्त किसी भी राज्य में आकर बसने के लिए उनका स्वागत है।

यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बनाए रखने की नौसिखिया लीपापोती थी या कोई बेहद गहरी 'चाणक्यीय' चाल या मानवतावादी, मनोवैज्ञानिक दृष्टि—कौन बताए?

अभी तो मैं जवान हू

आकाशवाणी की पचासवी वर्षगांठ पर अनेक कलाकार दिल्ली आए। इनमे से एक थी पाकिस्तान से आने वाली प्रसिद्ध गायिका—मलिका पुखराज। अपनी आदत के खिलाफ उनसे मिलने की अदम्य इच्छा से प्रेरित मैं सीधे जनपथ होटल जा पहुंची जहा वे अपनी छोटी पुत्रवधू के साथ ठहरी हुई थी। वहा अमृता प्रीतम भी उनसे मिलने आई हुई थी। अमृताजी ने बड़े प्रेम से मेरा परिचय मलिका पुखराज से करवाया। मैंने कहा "शुक्र है कि आप यहा थी वर्ना मैं क्या बताती कि मैं कौन हू" मलिका पुखराज मुस्कराकर बोली "नही समझ तो मैं जाती ही बस दो मिनट की देर और लगती।"

पलक झपकते ही वातावरण में आत्मीयता भर गई। क्या मालूम था कि दो दिन बाद ही मेरी उनसे दूरदर्शनपर भी मुलाकात होगी! वही भेंट यहा प्रस्तुत है

इन्दु जैन दूरदर्शन पत्रिका का यह नियम रहा है कि वह कला निधि मे पैठ कर आबदार मोती इकट्ठा करती रहती है। आज जिस बहुमूल्य पुखराज को हम आपके सामने प्रस्तुत कर रहे है वह लगभग चालीस साल से संगीत प्रेमियो की आत्मा को चौंधियाता रहा है रास्ता दिखाता रहा है। बेगम मलिका पुखराज की सोजभरी आवाज तो पाकिस्तान की सरहदो के आर-पार गूजती ही रही है आज पत्रिका का सौभाग्य है कि इस आवाज की मलिका खुद हमारे स्टुडियो में मौजूद है इस पार आई हैं।

मलिका पुखराज साहिबा! तकरीबन तीस साल बाद आप हिन्दुस्तान तशरीफ लाई हैं और यहा बेहिसाब आपके दीवाने है। एक तो मैं खुद ही बैठी हू।

मलिका पुखराज अगर आप दीवानी होतीं तो मेरा खयाल है, यहां नहीं होतीं।

इन्दु जैन जमाना बदल गया है। पहले तो दीवानों को दरवाजे के बाहर रखा जाता था। और अब देखिए, बराबर में बिठाया जाता है। खुशकिस्मती है हमारी। कैसा लग रहा है आपको भारत में?

मलिका पुखराज बहुत अच्छा' 'बड़ा प्यार'''सबसे अच्छी चीज है प्यार'''सो वह हमें यहां मिल रहा है। बहुत मजा है ' प्यार से तो सारी दुनिया कायम है' '।

इन्दु जैन वैसे भी आप तो परायी कहां हैं जम्मू की पैदाइश है आपकी। तालीम भी यहीं हुई है। हम तो आपको मेहमान कहने की भी तबीयत नहीं होती। आप इतनी अपने करीब की हैं 'इतने पास की हैं'''।

मलिका पुखराज खैर ', जो सही चीज है, उसे तो आप इग्नोर कर ही नहीं सकती। मेहमान तो हम हैं ही। यह ख्वाहिश है मेरी कि आप भी कभी महमान बनकर हमारे लाहौर में आएं।

इन्दु जैन शुक्रिया! अच्छा बहुत दूर, सालों के सफर में चलकर क्या आप बता सकती हैं कि आपको सबसे पहले किससे इश्क हुआ? मेरा मतलब है, शायरी से या मौसीकी से?

मलिका पुखराज मौसीकी से।

इन्दु जैन क्या आपने खानदान से विरासत में पाया है इसे?

मलिका पुखराज : नहीं'''।

इन्दु जैन कैसे फिर'''?

मलिका पुखराज बस'' ,बचपन में तो जाहिर है कि कोई भी चीज आप सिखाना चाहेंगे तो बच्चा अपनी मर्जी से कुछ भी नहीं सीखता। तो बचपन में तो मां-बाप की वजह से उन्होंने सिखाया और जिस वक्त खुद शऊर हुआ तो फिर अपने-आपको शौक हुआ '।

इन्दु जैन हां, मैंने कहीं पढ़ा था कि आपके पति ने भी आपकी इसमें बहुत मदद की'' ।

मलिका पुखराज · हां'' बहुत'' उनको भी गाने से इश्क था। यानी खुद नहीं गा सकते थे मगर सुनने से इश्क था।

इन्दु जैन · आप कहती हैं, मौसीकी से पहले प्यार हुआ तो हम माने लेते हैं। लेकिन मुझे लगता है कि गजल को जो चुनता है गाने के के लिए, उसे शायरी से तो प्यार होना ही चाहिए।

हफीज अहमद साहब को कि मौसीकी के बारे मे आपसे कुछ पूछें।

हफीज अहमद इससे पहले कि मैं कुछ सवाल आपकी खिदमत म पेश करू, मैं यह बता देना मुनासिब समझता हू कि इन्दुजी ने जिस खूबसूरती से आपसे सवालात पूछे हैं या आपसे जो चीजें दरयाफ्त की हैं मैं खुद इससे हैरत मे हू कि इसके अलावा या इसके आगे मैं क्या आपसे पूछ सकूगा ? फिर भी मैं कोशिश करूगा ।

मलिका पुखराज आप तो क्सरे नफसी पर उतर आए है।

हफीज अहमद जी नही, ऐसी बात नही है क्योकि वे सवालात या इन्दुजी का जो मकसद था, वे सब ऐसे है और आपके जवाबात भी ऐसे थे कि अब'' खैर, कोशिश करूगा ।

मलिका पुखराज . जरूर कीजिए कोशिश'' ।

हफीज अहमद सबसे पहली चीज यह है कि जिस अदाज म आप गजलें गाती हैं, उसका आधार प्योरक्लासिकल म्यूजिक पर है। तो जाहिर है, आपन क्लासिकल मौसीकी की तालीम हासिल की होगी। इस सिलसिले मे आप फरमाइए कि आपने किन-किन उस्तादो से सीखा ?

मलिका पुखराज मैंने अली बख्श "जो बडे गुलाम अली के वालिद साहब थे '' उनसे सीखा, फिर खा साहब अख्तर हुसैन, पटियाला वाले फिर आशिक अली, फिर मौला बख्श। उसके बाद और भी अगर कही से मुझे कोई चीज हासिल हो सकती थी तो मैं सीखती थी। इसके लिए मैंने कभी शर्म महसूस नही की कि मैं ये सीखू और य नही सीखू। जो भी मुझे कोई अच्छी चीज लगी, मैं सीखती हू और गाना तो आप सारी उम्र यानी आप सीखते रहेगे तो आपको हासिल होता रहगा।

अफीज अहमद जी हा ! इस सिलसिले म आप यह फरमाइए कि जिन जिन उस्तादो का आपने नाम लिया है उनमे आपने कुछ बदिशें सीखी होगी, कुछ रचनाए सीखी होगी—लेकिन शुरू की तालीम आपकी किस ढग की रही है ? बिलकुल इब्तदायी तालीम ?

मलिका पुखराज इब्तदायी तालीम तो यही सरगम से शुरू हुई थी। सरगम, पल्टे सिर्फ आवाज मे गाना जैसे आ आ सा । क्योकि 'सा' का ये रियाज जो पकेगा आपका तो फिर कई और चीजें

गाई जाएगी, बात बनेगी।

हफीज अहमद यह बयान भी आपका इन्तहाई हसीन है। लोग कहते हैं कि सात सुर मुश्किल हैं लेकिन आपके हिसाब से 'सा' ही मुश्किल है और अगर 'सा' पर काबू हो जाए तो सातों सुर बल्कि जो बारह सुर हैं, उन सबपर कुदरत हासिल हो जाएगी। क्या ख़याल की तालीम भी आपने हासिल की?

मलिका पुखराज हां, ख़याल की भी जरूर की, बल्कि ध्रुपद की भी। एक नियाज हुसैन शामी होते थे, उनको बहुत अच्छी, बहुत ही अच्छी ध्रुपदें याद थीं, ध्रुपद और टप्पे। तो, ये भी मैंने उनसे सीखे।

हफीज अहमद टप्पे जो क्लासिकल अंदाज में है नीम शोरी? वो भी आप गाती थीं?

मलिका पुखराज हां, उन्हें ज्यादा मैंने नहीं गाया मगर सीखे मैंने उनसे जरूर हैं।

हफीज अहमद यहां पर लखनऊ और बनारस हमारे सेंटर हैं जहां पर इनका जोर रहा है।

मलिका पुखराज जी हां, बड़ी मोती बाई को कौन भूल सकता है?

हफीज अहमद वाकई टप्पा एक ऐसी चीज है जिससे गले का एक बहुत ही ख़ूबसूरत सांचा बन जाता है और उसके बाद में कोई भी गायकी या कोई भी गायन शैली हो आर्टिस्ट उसे आसानी से अदा कर सकता है। गजल के सिलसिले में मैं आपसे यह अर्ज करना चाहता था कि कुछ बहरें होती हैं जो कि बहुत लंबी यानी बहरे-तवील होती हैं और कुछ बहुत ही मुख्तसर—छोटी। आप जब खुद तर्जें बनाती थीं तो इन बहरों में से इस्तेमाल ज्यादा किसका करती थीं?

मलिका पुखराज मैं कभी इस चीज पर ज्यादा ध्यान नहीं देती थी। बल्कि मैं तो सिर्फ इसका ख़याल रखती थी कि गजल कौन-सी अच्छी है। उसे लफ्जे एतबार से चुनती थी और फिर उसके बाद ताल सोच लेती थी। अगर बहुत लंबी हो तो भी और छोटी हो तो भी। जौहरा बाई आगरे वाली ने झपताल तक में गजल गाई है।

इन्दु जैन जी, मैं बीच में एक बात पूछ सकती हूं?

मलिका पुखराज जी हां, जी हां, जरूर।

इन्दु जैन आपकी छोटी बेटी ताहिरा गाती हैं। उनको तो आपने पकड़ ही लिया है कि गाना सीखना पड़ेगा। उनको आप ये सब चीजें

सिखा रही हैं ?

मलिका पुखराज — जी नहीं, अभी नहीं। अभी उसने ऐसे नहीं सीखा। उम्मीद है कि अब उसको भी शऊर आया है और इंशा अल्लाह मुझे उम्मीद है कि वह भी सीखेगी।

इन्दु जैन — हफ़ीज साहब, आपको और एक बात बताएं ? एक राज खोलें ? आप यह न समझिए कि मलिका साहेबा सिर्फ़ गजल ही गाती हैं। इनकी जब उंगलियां चलती हैं न, तब भी एक करिश्मा पैदा होता है।

हफ़ीज अहमद — क्या है साहब वो राज ?

इन्दु जैन — यह जो कालीन हमारे पीछे टंगा हुआ है इस आपने ही कढ़ाई करके बनाया है और इनकी धागों से बनाई तस्वीरें तो देखिए ! लगता है, बिलकुल पेंटिंग्स हैं। जरा हमें इनके बारे में भी तो बताइए कि यह शौक आपको कैसे हो गया ?

मलिका पुखराज — बस कुछ ये समझ लीजिए कि ये चीज भी मुश्किल थी करनी तो इसीलिए इसमें भी कदम रख दिया। एक-एक तस्वीर को साल-साल, दो-दो साल लग जाते थे बनाने में। स्टिच दर-स्टिच बनाते चले जाओ।

इन्दु जैन — माफ़ कीजिएगा एक बहुत ही औरताना सवाल पूछूं ?

मलिका पुखराज — यह 'औरताना' लफ्ज पहली दफा सुना है। मर्दाना तो सुना था मगर 'औरताना' पहली दफा सुना है। (हंसी)

इन्दु जैन — कौन-सा स्टिच लगाती हैं इसमें आप ? यह शायद ख़ास स्टिच है ...?

मलिका पुखराज — नहीं, ख़ास स्टिच तो ये नहीं है। इसको नीडल पायण्ट या पता नहीं कुछ ऐसा ही कहते हैं। ये जो ताहिरा की तस्वीर देख रही हैं न ? उसमें देखिए, ये कमाल है कि दुपट्टे के नीचे आपको कुर्ते में लगा ब्रेट नजर आएगा। और ये चीजें फॉर ऐवर हैं। कभी इनके रंग ख़राब नहीं होंगे, मैली हो जाए तो आप साबुन में धो लें। सूत की बनी है इसलिए सदियों तक इसका न रंग फेड होगा, न इसको कीड़ा खाएगा।

इन्दु जैन — बड़ी गहरी बात कही है। सूत की बनी है—इसलिए। मिट्टी में जो चीज पैदा होती है जो जितनी पास हो जमीन के वह उतनी ही पाएदार है।

हफ़ीज अहमद — मैं तो ये कहूंगा कि ये जितनी पेंटिंग्ज हैं, उनमें तो सुरों के रंगों के उतार-चढ़ाव मुझे दीखते हैं।

इन्दु जैन एक बात बिलकुल अलग हटकर पूछू ? यों ही एक सवाल दिमाग में आ गया है कि जिन्दगी का सबसे बड़ा सुकून, सबसे बड़ी खुशी आपके लिए क्या है ?

मलिका पुखराज यही है कि अगर आपको अल्लाह ने दुनिया में भेजा है तो आप कुछ-न-कुछ ऐसी चीजें करें कि जिससे आपको लोग कम-से-कम कुछ अर्सा तो बाद में जिंदा रक्खें।

इन्दु जैन आप यहां बैठी हैं और मेरे दिमाग में न जाने क्या-क्या बातें आ रही हैं··· । मान लीजिए कि जिन्दगी का फरिश्ता आपके सामने आकर खड़ा हो जाए और कहे कि मांग ले जो मांगती है, तो कौन-सी ख्वाहिश पूरी करना चाहेंगी ?

मलिका पुखराज यही कि बस "अल्लाह मियां, मुझे इतना कुछ दे दे कि जिसमें दुनिया वाले देख-देखकर कहें कि आहा' 'यह बात आपने कमाल की की है। दूसरा नहीं गा सकता था। दूसरा नहीं कर सकता, आप ही कर सकती हैं···।

इन्दु जैन किया है आपने यह···ल्माही कमाल पैदा किया है आपने। अच्छा, एक बात बताइए कि बहुत-सी जो अच्छी गजलें हैं, वे मुख्तलिफ लोगों ने अदा की हैं अपने-अपने ढंग से। थोड़ा गुस्ताख सवाल पूछ लूं ? (जी ··) कोई ऐसी गजल है जो आपको लगता है कि आपसे ज्यादा अच्छी किसी दूसरे ने गाई है ?

मलिका पुखराज मैंने य तजाज्जुम कभी किया नहीं।

इन्दु जैन मेरा मतलब था पूछने का कि क्या आपको कोई पसंद है बहुत ज्यादा ?

मलिका पुखराज हां, मैं यही कह रही हूं कि मैंने कभी ऐसा सोचा ही नहीं कि मैंने इससे अच्छी गाई है या· मैं तो समझती हूं कि मुझे गाना आता ही नहीं। नहीं, वाकई मैं ईमानदारी से कह रही हूं। झूठ नहीं कहती। मैं अपने-आपको गायक समझती ही नहीं। य तो सिर्फ आप लोगों की मेहरबानी है, आपका प्यार है कि आप यह समझती हैं कि मुझे बड़ा अच्छा गाना आता है और आपको मेरी आवाज पसंद है। यह तो कुदरत की बात है। आप पूछती हैं—अच्छा कौन लगता है ? · 'अच्छा गाना कौन-सा है ? जो भी हो—अच्छा वह गाना, जिसका दिल पे असर हो··।

इन्दु जैन बात यही है। और इसलिए जो आप फरिश्ते से मांगती हैं, वह आपको मिल जाएगा क्योंकि आपकी सोजभरी आवाज हमेशा

जिंदा रहेगी। उसका दिल पर असर जिंदा रहेगा। और इसके साथ जिंदा रहेगा हफीज जालंधरी का वह नग्मा, जो आपने गाया है

"अभी तो मैं जवान हू···
···वो राग छेड़ मुतरिबा
तरब खजा अलम रबा
असर सदाए साज का
जिगर मे आग दे लगा

हरेक लब पे हो सदा—
न हाथ रोक साकिया
पिलाए जा पिलाए जा
पिलाए जा पिलाए जा
अभी तो मैं जवान हू···"

३६५ दिन की सुल्ताना के पांसे

१८ नवम्बर

बम्बई-निवासी, मोहक, कत्थई आंखो वाली गोआ की सुन्दरी, मिस रीता फारिया, जो डॉक्टरी की शिक्षा पूरी करके स्त्री-रोगो की विशेषज्ञ बनना चाहती है, कल लन्दन के लीसम थियेटर मे विश्व-सुन्दरी पद से विभूषित की गई। उन्होंने लगभग पचास प्रतिस्पर्द्धियो को हराकर यह पद पाया।

फारिया की विजय ने लन्दन के सभी लोकप्रिय अखबारो मे पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब खा के लन्दन पधारने की खबर को अन्दरूनी पन्नो पर ढकेल दिया।

फारिया के कथनानुसार, उनकी शादी जून मे ओसबोर्न लोबो से होगी जो पश्चिम बगाल के किसी चाय बागान मे व्यवस्थापक हैं।

२० नवम्बर (डायरी का एक पन्ना)

' मुझे लगता है कि इस समय पढाई म मन लगाना और सारी दुनिया की सैर के इस मौके का फायदा उठाना दोनो काम एकसाथ कर पाने कठिन होगे।

जब मैंने अपने मगेतर से सौन्दर्य-प्रतियोगिता की बात की थी तो वे हस दिए थे। वे अब भी, जरूर, हस ही रहे होगे।

मेरा इरादा लगभग एक सप्ताह बाद भारत लौट आने का है।''

—फारिया

२८ नवम्बर

फारिया ने दक्षिण वियतनाम जाने का इरादा रद्द करते हुए कहा कि ' भारतीय उच्चायुक्त जीवराज मेहता ने मुझे बताया कि भारत सरकार वियतनाम युद्ध

के विरुद्ध है और वे स्वय भी मेरे वहा जाने के विचार से खुश नही हैं।"

२९ नवम्बर

एक अमेरिकी सवाददाता ने पूछने पर कि क्या उनके कहने का तात्पर्य है कि व्यक्तिगत भारतीयो के वियतनाम जाने पर भी पाबन्दी है, विदेश मन्त्री श्री छागला ने कहा

"ये दोनो बातें एक सी नही हैं। विश्व-सुन्दरी मिस फारिया का वियतनाम जाकर अमेरिकी सिपाहियो के सामने गाना बजाना और अपने को प्रदर्शित करना एक बात है और किसी अन्य सामान्य नागरिक का वहा जाना दूसरी बात।"

३० नवम्बर

फारिया ने भारत सरकार से अपील की है कि उनकी विश्व सुन्दरी उपाधि को राजनीति से अलग रखा जाए। वे अमरिकी सिपाहियो का मन-बहलाव करने वियतनाम जाने के लिए तैयार हैं।

आज ही भारत के विदेश मन्त्रालय ने भी मिस फारिया को भारत का दौरा करके सरकार के सूखा सहायता-कोष मे अपना योगदान देने का निमन्त्रण भेजा है।

२ दिसम्बर

विदेश मन्त्रालय भरसक प्रयत्न कर रहा है कि फारिया वियतनाम न जाने पाए। साउथ ब्लॉक के कर्त्ता धर्ता अभी फारिया के पासपोर्ट तो रद्द करने की नही सोच रहे किन्तु फारिया के माता पिता और उनके मगेतर द्वारा मिस फारिया पर जोर डलवाया जा रहा है।

३ दिसम्बर

लन्दन से मिली खबर ने, कि फारिया आखिर वियतनाम जा ही रही हैं, राज्य-सभा मे हलचल पैदा कर दी। कम्युनिस्ट सदस्यो ने विश्व-सुन्दरी की यात्रा-योजना स्थगित कराने के लिए सरकारी कार्यवाही की माग का शोर मचा दिया।

४ दिसम्बर

एक भेंट मे श्री लोत्री ने कहा कि रीता के लिए यही अच्छा होगा कि वे वियतनाम न जाए। उन्होने कहा कि जब रीता ने अनुबन्ध पर हस्ताक्षर किए थे, उस समय शायद उन्हें यह नही कहा गया था कि उन्हे दक्षिण वियतनाम भी जाना पडेगा।

७ दिसम्बर

"अगर समझौते म वियतकाँग के बीच जाने की बात होती तो मैं उनमे जाती।' जब फारिया को बताया गया कि थी लोबो उनका वहा जाना ठीक न समझते तो फारिया ने तपाक से जवाब दिया, "मैं उनके विचारो की जिम्मे नही।"

पत्रकारो के और कुरेदने पर और लोबो के कलकत्ता मे दिए कथन पर कि चाहेंगे कि मिस फारिया समस्त विश्व सुन्दरी कार्यक्रम स्थगित कर उनसे वि कर लें, फारिया की प्रतिक्रिया पूछी गई तो उन्होने कहा, "विवाह की बात करूगी, किन्तु आपसे नही। सिर्फ लोबो ही स इस विषय मे चर्चा होगी।'

२२ दिसम्बर

मिस फारिया की वियतनाम यात्रा के सन्दर्भ मे जब एक सवाददाता न श्रीम गाधी से पूछा कि क्या अपनी इस सेवा के इनाम स्वरूप मिस फारिया राजन कार्य के लिए नामजद की जाएगी तो चारो तरफ से हसी के फव्वारे छूट पड़े

२३ दिसम्बर

कुछ अमेरिकी कलाकारो ने बॉब हॉप के साथ अमेरिकी सैनिकों के मन लाव क लिए वियतनाम जाने से इनकार कर दिया। लेकिन भारत की फारिया अपने देश की विपरीत सलाह के बावजूद हॉप टोली का साथ दे रही

३ जनवरी

वियतनाम स वापस लन्दन पहुचने पर फारिया ने कहा,' धूल और कीच बठे १० स १२ हजार सिपाहियो के समवेत गान का दृश्य मेरे जीवन का मर्वा रोमाचकारी अनुभव था। हर रात शो के बाद घर पहुचने तक मेरे आसू थमत न थे।"

६ जनवरी

सीरिया की एक पर्यटन सस्था ने आज सूचित किया कि क्रिसमस पर वियत जाने क फलस्वरूप उन्होने अपने उस निमन्त्रण को वापस ले लिया है जो उ रीता फारिया को अपने देश आने के लिए भेजा था।

८ जनवरी

सोवियत सरकार के एक राजनैतिक साप्ताहिक ने कहा कि अमेरिका ने

सरकारी नागरिक मिस रीता फारिया के माध्यम से, अप्रत्यक्ष रूप में सही, भारत को वियतनाम के अमेरिकी-आक्रमण में लपेटना चाहा है।

२ फरवरी

फारिया ने लोबो से अपना पचवर्षीय रिश्ता तोड दिया है। इस विषय पर चर्चा करते हुए उन्होंने कहा, 'ओसब्रोर्न से मेरा पत्र व्यवहार अभी भी चल रहा है, परन्तु ये पत्र पूर्णतः सात्त्विक हैं।"

आज मिस फारिया सुनहरे रग की रोल्स रायस में बैठकर लन्दन के एक थियेटर में पहुची। गाडी-चालक थे—विख्यात पूजीपति श्री गुरु लालवानी।

"मैं श्री लालवानी के साथ उनके परिवार के लन्दन-निवास-स्थान पर रह रही हू।" फारिया ने सूचित किया और फिर सूचना में यह टिप्पणी भी जोड दी, "नि सन्देह हम दोनो मित्र-मात्र हैं।"

५ मार्च

उनके डॉक्टर बनने में चाहे कितनी ही कठिनाइया हो, फारिया की नुस्खा लिखने की आकाक्षा तो पूरी हो ही गई है। यह अन्य बात है कि नुस्खे दवाइयो के न होकर सौन्दर्य-सज्जा के है। फारिया ने लन्दन के एक प्रसिद्ध शृगार-कक्ष में काम शुरू कर दिया है। इस सिलसिले में उन्हें इग्लैंड का दौरा करना होगा और अपने कक्ष की ओर से सौन्दर्यवर्द्धक नुस्खे लिखने होगे।

३१ जुलाई

कल रात फारिया ने ऐलान किया कि सौन्दर्य-प्रतियोगिता-सचालक सस्था, मक्का लिमिटेड, से वे सम्बन्ध तोड रही हैं। उनकी शिकायत है कि यह सस्था सौन्दर्य-ससार में उनके बारह-मासी शासन का सुचारु सचालन नही कर पाई और अनुबन्ध के वायदों को भी उसने पूरा नही किया।

२ अगस्त

मक्का लिमिटेड के प्रवक्ता ने फारिया की बात को गलत बताते हुए कहा, "हम उन्हें अनुबन्ध में बाधकर रखेंगे। यदि रीता फारिया ने कोई और काम हमारी सहमति के विरुद्ध किया तो उनपर मुकदमा भी दायर किया जा सकता है।"

१९ सितम्बर

फारिया आज एक कम्पनी में फैशन डिजाइनर और मॉडल बन गई। फर्म की पुरानी डिजाइनर ने त्यागपत्र देते हुए कहा कि रीता ने उनके सारे नमूनो का

ही नही बल्कि सारी ड्रेसो का श्रेय हथिया लिया है।

"मैं स्केच बनाती थी, कपडे का चुनाव करती थी और फिर खुद उनकी कत-राई करती थी, अर्थात् सारा काम मेरा ही था। फारिया को आता ही क्या है? और रही कपडा चुनने की बात तो उसे तो रेशम और टाट मे भी तमीज नही।" डिजाइनर जेन फॉक्स ने कहा।

३० अक्तूबर

रीता की मा, श्रीमती फारिया, जो अब लन्दन मे हैं, ससार की सब माओ की भाति चाहती हैं कि उनकी बेटी शादी कर ले और सुखी-सम्पन्न रहे।

फारिया ने, जो अपनी 'सल्तनत' के आखिरी कुछ सप्ताह व्यतीत कर रही है, कहा कि वे लन्दन विश्वविद्यालय मे अपनी डॉक्टरी की पढाई पुनः आरम्भ करने जा रही हैं। उसके बाद वे अपने अमेरिकी मगेतर से शादी करेंगी।

उन्होने कहा कि हो सकता है, एक दिन वे भारत जाए लेकिन कुछ दिन की तफरीह मात्र के लिए ही। उनकी मा बडी जिज्ञासा से उस दिन का इन्तजार कर रही हैं जब उनकी बेटी के सम्मान की अवधि समाप्त होगी।

"यह सब अच्छा था परन्तु समस्याए भी कुछ कम नही थी। मुझे खुशी होगी जब यह सब खत्म हो जाएगा।" मा फारिया ने कहा।

३ नवम्बर

फारिया ने आज एक और क्षेत्र मे कदम रखा। उन्होंने कीनिया के एक सफारी मे शामिल होकर अफ्रीका की पथरीली, ऊबड-खाबड और गर्दीली सडको पर तेज मोटर चलाई। जब उन्होंने एक मोड पर मोटर इतनी तेजी से घुमाई कि वह सिर्फ दो पहियो पर ही थी, तो उनके चाहने वाले चीख उठे। फिर उन्होंने एक 'स्पोर्ट्स' गाडी को इस फर्राटे से चलाया कि प्रेस-कैमरा वाली गाडी काफी पीछे छूट गई और विश्व-सुन्दरी के गति-चित्र प्राप्त न हो सके।

एक बार लगा कि सब अमिद्ध हो गया और स्वागत की गरिमा फीकी पड गई। लेकिन, *क्या यह गलत हुआ? क्या इसी क्षण सीमांत गांधी की हमसे अधिक* आवश्यकता नही थी? क्या उनके आगमन ने, उनके क्षोभ ने, देश मे छाए गांधीवाद के अस्वीकार और गांधी-पूजा के मजाक को रेखांकित नही कर दिया?

बादशाह खान एक धार्मिक व्यक्ति है। असहयोग आदोलन मे भाग लेने के प्रारंभिक दिनो मे अग्रेजी अफसर के कहने पर बादशाह खान के पिता ने उन्हे इस मार्ग से विमुख करने के लिए समझाया बुझाया। तब यह दलील देकर बादशाह ने पिता को निरुत्तर किया था कि अग्रेज मुझे नमाज पढने को मना करें तो क्या मुझे मान जाना चाहिए? किन्तु बादशाह खान की धर्मपरक दृष्टि सामान्य धार्मिको से बिल्कुल अलग है। उनके लिए धर्म आपसी फसाद का कारण नही, आपसी मेल मिलाप का साधन रहा है। खान के अनुसार धर्म एक आदोलन है, यदि इसमे शामिल होने वाले लोग नि स्वार्थ त्यागी और नेक हैं—यदि इस धर्म की परिधि देश और विश्व को आलिंगित करती है। धर्म हम अधिक अच्छा विश्व मानव बनाता है। धर्म साधन है—*साध्य नही। जब यह मानकर चला जाए तभी यह* आदोलन सफल हो सकता है।

ऐसा सोचने वाले व्यक्ति न सिर्फ अपने देश और जाति के लिए बल्कि मानव-मात्र के लिए नियामत है। धर्म बडी महान लेकिन बेहद नाजुक चीज है। सामान्य मनुष्य मे हर अच्छी चीज की गलत व्याख्या करने की कितनी ज्यादा ताकत है—बादशाह खान खूब समझते हैं। तभी बहुत शुरू मे ही उन्होने एक बार अपने सेक्रेटरी से सदेह प्रकट करते हुए कहा था कि *गांधीजी की गहरी बातें आम जनता के* लिए कही धोती, चोटी और बकरी के दूध तक ही सीमित न रह जाए।

इस सलवार-कुर्ते वाले व्यक्ति मे अतीव चिन्तनशक्ति के अतिरिक्त व्यावहारिकता का अद्भुत समावेश है। वे एक साधारण मनुष्य का कम खर्चीला जीवन *व्यतीत करते रहे है। बाडे मे सोए हैं, अपना कमरा खुद बुहारा है,* कपड़े बराबर अपने हाथो से धोए हैं। बच्चो को खान साहब ने हमेशा प्यार किया। कई बार मैले-कुचैले नन्हे मुन्ने को सडक से उठा लाए। उन्हे नहलाया-धुलाया, सजाया-सवारा और खिला-पिलाकर उनके घर वापस भेज दिया।

नैनी जेल का यह दीवाना कैदी खेल के वक्त कैनवस के जूते और निकर पहनकर बैडमिंटन के मैदान मे जूझ जाता था। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी जीवनी मे कहा है, "मुझे एक दोपहर सपना दिखा कि अब्दुल गफ्फार खां पर चारो ओर से प्रहार हो रहे हैं और मैं उन्हे बचा रहा हू। मुश्किल से मेरी नीद टूटी। इस सपने ने मुझे बहुत हिला दिया था और मैं परेशान हो उठा था। मेरा तकिया आसुओं से गीला था। अपनी इस स्थिति पर मुझे आश्चर्य हुआ क्योकि जाग्रत् अवस्था मे मैं भावुकता-प्रदर्शन से बहुत परे था।"

बादशाह खान सबका महबूब रहा है—गाधी का, नेहरू का, लाल कुर्ती वालों का और भारत की जनता का। वह भीतर से एक निरीह शिशु है। यदि उसे कोई पसद न कर पाए तो वे थे दो देश—इग्लिस्तान और पाकिस्तान। दोनों ने मिलकर लगभग चालीस साल उसे कारागार की काली कोठरी मे बद किए रखा और उसकी मुस्कान छीन ली। अग्रेजो ने अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए खान पर पहरे लगाए थे और पाकिस्तान भी उसीको बनाए रखने के लिए सीमात गाधी को जेल मे बूढा करता रहा। खान अब्दुल गफ्फार खा बलूचियों के रहनुमा हैं और उनके हकों के पहरेदार। माग करने वाला सत्ता का स्वाभाविक शत्रु मान लिया जाता है, क्योंकि उसकी आवाज कहीं-न-कहीं सरकार की खामियों को बुलद करती है। यही वजह है कि दुनिया की हर सरकार के अधिकतर बचाव-साधन मागो की आवाजें कुचलने में काम आते हैं। यहा मामला टेढा था। सीमात गाधी का व्यक्तित्व इतना विशाल था कि उससे टकराना आसान नही था। पाकिस्तान ने यह ठीक समझा कि इस सिरफिरे खुदाई खिदमतगार की निर्भीक पुकार को बद करके रखा जाए ताकि उसकी मलकार पर जनता के उठ खडे होने का खतरा रहे और न दुनिया को भौंहें उठाने का मौका मिले।

यो, उनकी इस मुसकान के मिट जाने मे उनके दोस्तों का भी हाथ रहा है। और इसने उनके दिल को छेद डाला है। जीवन के अजीबोगरीब अनुभवो के बाद उन्हें किसीका भरोसा नही रह गया है। दिल्ली के पालम हवाई अड्डे पर सवाददाताओं के सदेश-अनुरोध के बाद उन्होंने पत्रकारों से एक उदास सवाल पूछा था, "भैया, आपलोग वही लिखेंगे न जो मैंने कहा है ?" और फिर जैसे खुद ही सवाल का जवाब देते हुए बोले थे, "पजाब मे तो मैं जो बोलता हू, उसका उलटा छपता है।" पजाब से उनका अभिप्राय पाकिस्तान से था।

बादशाह खान आक्षेपो की जादूगरी से खूब परिचित हैं। इस नगर की हवाओं मे खजर छिपे होते हैं। उनपर आरोप लगाया गया कि वे पुरस्कार मे मिले भारतीय धन का उपयोग पाकिस्तानी चुनावो को प्रभावित करने के लिए कर रहे हैं। मनुष्य की मनुष्यता मे विश्वास रखने वाले इस पठान का खून किस कदर खोला होगा इसका अन्दाजा उस चुनौती से लगाया जा सकता है जो उन्होंने रेडियो अफगानिस्तान से पश्तू मे प्रसारित की। उन्होंने कहा कि भारत से मिली सारी रकम बैंक म जमा है और पाकिस्तान सरकार का कोई कर्मचारी या कोई भी सामान्य पाकिस्तानी नागरिक उनके बैंक-खाते की जाच कर सकता है।

बादशाह खान की जिन्दगी यो ही एक पैर जेल मे और एक बाहर बीती है। बल्कि कहा जाए कि जब उन्हें उनके स्वभाव के कारण जेल मे रखना नामुमकिन हो गया तभी मजबूरन बाहर करना पडा। जेल मे डालने के लिए सरकार के पास बहानो की कभी कमी न रही। यहा तक कि अखबार पढने वालो को भी इसकी आदत

पड़ती चली गई। नमूने के तौर पर, बादशाह खान को अचानक मुलतान में गिरफ्तार कर लिया गया। वे बलूचिस्तान की राजधानी क्वेटा में सार्वजनिक सभाओं को संबोधित करने जा रहे थे। इस वक्त वे अपनी इस यात्रा का उपयोग पठान और बलूचियों के बीच पड़ रही दरार को कम करने के लिए कर सकते थे लेकिन सरकार ने उन्हें यह अवसर नहीं दिया। राजनीति के ऊंचे मोहरों की टेढ़ी चाल में शांति की सीधी चाल चलने वाले प्यादे की कोई जरूरत नहीं समझी गई।

एक अन्तराल के बाद खबर आई कि बादशाह खान गंभीर रूप से अस्वस्थ हैं और दो देशों की कूटनीति के बीच घुन की तरह पिसता रहा एक निर्दोष, समर्पित आदर्शवादी बूढ़ा। चिकित्सा के लिए सोवियत संघ जाने का वीजा मिलना एक तमाशा बनकर रह गया। आखिरकार बादशाह खान ने हिन्दुस्तान जाकर अपनी स्वास्थ्य परीक्षा और चिकित्सा कराने की इच्छा पाकिस्तानी राष्ट्रपति जनरल जिया उल हक के सामने रखी। उनकी इस अदना अपील का क्या हुआ, दुनिया को आज तक पता न चला। पता चला इतना ही कि वे न रूस गए, न भारत आए। और कहीं बहुत गहरे भीतर—दुनिया को यह भी अहसास होता रहा कि तोप तलवार को भी खतरा हुआ करता है—तपस्या में खुद को गला देने वाले निहत्थे दधीचि की अस्थियों से।

× × ×

पर भारत की खुशकिस्मती। घटनाचक्र ने कुछ ऐसा रुख लिया कि बादशाह खान को सन् १९८० के शुरू में पाकिस्तान सरकार ने इलाज के लिए दिल्ली आने की इजाजत दे दी। भारत तो हमेशा ही इनकी अगवानी में पलकें बिछाए था। बादशाह खान की खिदमत करने का मौका पाकर अपने को सराहा, लेकिन दिल्ली की मेडिकल इन्स्टीट्यूट में भरती होते समय उस शेर-से जिस्म वाले इंसान को ढीला-ढाला हड्डियों का ढांचा देखकर, सबका जी बैठ गया। जी-जान लगाकर डाक्टरों ने सेवा की और ९२ वर्षीय बादशाह खान स्वास्थ्य-लाभ कर ३० जून की शाम को विमान द्वारा दिल्ली से नागपुर पहुंच, वहां से पवनार जाकर आचार्य विनोबा भावे से मिले और सेवाग्राम जाकर बापू की कुटिया में विश्राम किया कुछ देर, मानो उनकी तीर्थ यात्रा पूरी हुई। • लेकिन दरअसल एक साकार तीर्थ स्वयं आकर भारत को पवित्र कर गया।

खण्ड 3



आधा अंग

नारी अपने आकार से त्रस्त है
देह के फल मे खुशबू-सी ग्रस्त है।

नारी और विधायक

अक्सर पश्चिम की दुनिया से अजीबोगरीब खबरें आंधी की तरह उठकर हमारे दिमाग झकझोर जाती हैं। कभी पढ़ने में आता है कि बहुत-सी सुनहरे बालो, नीली आंखो वाली कुमारिया दिगम्बर अवस्था में ब्रिटेन के एक प्रधानमन्त्री को अपने पाँच समारोह में प्यानो बजाने का आमन्त्रण देने जा पहुंची तो कभी स्त्रियो के लिब' आदोलन की नेता ग्लोरिया स्टाइनेम इसपर रोष प्रकट करती है कि यदि पुरुष सदा 'श्री' रह सकता है तो स्त्रियो को 'कुमारी' और 'श्रीमती' के ढोल की क्या जरूरत ? ये सब समाचार हमारे 'पूर्वी' मन में उद्वेलन से ज्यादा कौतूहल जगाकर रह जाते हैं। भारत की आर्थिक और सामाजिक प्रगति इन उन्नत देशो का बगलगीर नही हो सकती। यहा की स्त्रिया अभी कल ही पर्दे से बाहर आई हैं। वेशभूषा, शृगार और यौन-स्वाधीनता मे उन्हे अभी बहुत मजिलें तय करनी हैं। पश्चिम की स्त्री का स्वतन्त्रता-अभियान भारतीया का शखनाद नही बन सकता।

भारतीय स्त्री ने अपना सघर्ष अधिक गहरे और गभीर स्तर पर शुरू किया है। इसका श्रेय स्त्रियो को उतना नही जितना उन मनीषी समाज-सुधारको को है जिन्होने यह स्पष्ट देखा कि किसी भी समाज का उन्नयन तब तक सभव नही जब तक उसकी स्त्रिया मानवोचित सम्मान और समानाधिकार नही पाएगी।

भारतीय सविधान मे स्त्रियो को पूर्ण समानता मिली है। १९४७ म स्वाधीनता पाते ही लक्ष्य निर्धारण-प्रस्ताव मे यह समानता सिद्धात रूप रखी गई थी। इसको, बाद मे सविधान मे सम्मिलित कर लिया गया। सविधान की पद्रहवी और सोलहवीं धारा के अनुसार स्त्रियो को नौकरी पेशे मे समान अवसर दिया गया था। तत्पश्चात् स्वाधीन भारत के सामाजिक विधेयक ने स्त्री को उत्तराधिकारी, सम्पत्ति और विवाह के क्षेत्र मे पुरुष की समकक्षता प्रदान की। यह कम बडी

नारी और विधायक

अकसर पश्चिम की दुनिया से अजीबोगरीब खबरें आंधी की तरह उठकर हमारे दिमाग झकझोर जाती हैं। कभी पढने मे आता है कि बहुत-सी सुनहरे बालो, नीली आखो वाली कुमारिया दिगम्बर अवस्था मे ब्रिटेन के एक प्रधानमन्त्री को अपने पॉप समारोह मे प्यानो बजाने का आमत्रण देने जा पहुची तो कभी स्त्रियो के 'लिब' आदोलन की नेता ग्लोरिया स्टाइनेम इसपर रोष प्रकट करती है कि यदि पुरुष सदा 'श्री' रह सकता है तो स्त्रियो को कुमारी' और 'श्रीमती' के ढोल की क्या जरूरत ? ये सब समाचार हमारे 'पूर्वी' मन मे उद्वेलन से ज्यादा कौतूहल जगाकर रह जाते है। भारत की आर्थिक और सामाजिक प्रगति इन उन्नत देशो का बगलगीर नही हो सकती। यहा की स्त्रिया अभी कल ही पर्दे से बाहर आई है। वेशभूषा, शृगार और यौन स्वाधीनता मे उन्हे अभी बहुत मजिलें तय करनी हैं। पश्चिम की स्त्री का स्वतन्त्रता-अभियान भारतीया का शखनाद नही बन सकता।

भारतीय स्त्री ने अपना सघर्ष अधिक गहरे और गभीर स्तर पर शुरु किया है। इसका श्रेय स्त्रियो को उतना नही जितना उन मनीषी समाज-सुधारको को है जिन्होने यह स्पष्ट देखा कि किसी भी समाज का उन्नयन तब तक सभव नही जब तक उसकी स्त्रिया मानवोचित सम्मान और समानाधिकार नही पाएगी।

भारतीय सविधान मे स्त्रियो को पूर्ण समानता मिली है। १९४७ मे स्वाधीनता पाते ही लक्ष्य निर्धारण प्रस्ताव मे यह समानता सिद्धात रूप रखी गई थी। इसको, बाद मे सविधान मे सम्मिलित कर लिया गया। सविधान की पद्रहवी और सोलहवी धारा के अनुसार स्त्रियो को नौकरी पेशे मे समान अवसर दिया गया था। तत्पश्चात् स्वाधीन भारत के सामाजिक विधेयक ने स्त्री को उत्तराधिकारी, सम्पत्ति और विवाह के क्षेत्र मे पुरुष की समकक्षता प्रदान की। यह कम बडी

उपलब्धि नहीं थी लेकिन दुख की बात यह है कि मनीषियों ने जिस तथ्य को समझा था, सामान्य नागरिक उसे आत्मसात् न कर पाया। इसीलिए जहा एक ओर कुछ भारतीय प्रबुद्ध नागरिकाए उन्नति के चरम शिखर पर पहुंच गईं, वहीं दूसरी ओर पिछड़े हुए परिवारों में स्त्री अपनी पूर्व दशा से बिलकुल ही उबर नही पाई। स्थिति की भयकरता वहा सबसे ज्यादा है जहाँ नारी अपनी अवस्था की शोचनीयता को अवश्यभावी नियति मानकर निर्विरोध स्वीकार करती है। परिस्थिति को बदलने की इच्छा या विद्रोह का कोई अकुर उसके अवचेतन म स्वप्न नही जगाता।

फिर भी प्रगति का सदा स्वागत है। वह किसी भी सिरे से, किसी भी सीमा से प्रारभ क्यों न हो, अपने नैसर्गिक स्वभाव के कारण प्रसार पाती है। कार्यसिद्ध महिलाए औरों के लिए हमेशा ही प्रेरणा और सभावना का दर्पण बनी रहेंगी। पहले आम चुनाव म ही आठ करोड तीस लाख से अधिक स्त्रिया ने मतदान दिया। विजेता महिलाओ म स तीन मत्री-पद के लिए चुनी गई और अडतीस ससद सदस्याए बनी। यह स्थिति तो १६५२ में थी। पाचवें आम चुनाव मे यद्यपि विधान-सभाओं और राज्य व लोकसभा मे चौथे आम चुनाव के मुकाबले कम स्त्रिया निर्वाचित हुईं, लेकिन उनकी राजनीतिक सूझ बूझ १६४७ से कई गुना बढ चुकी थी।

शिक्षा को, जो कि किसी भी देश के विकास के लिए ताजी हवा की तरह जरूरी है, उसे यदि स्वतत्र भारत मे स्त्री के सदर्भ मे देखें तो पाएगे कि पच्चीस वर्षों मे आश्चर्यजनक परिवर्तन आया। इस दौरान एक करोड अस्सी लाख लडकियों ने व्यावसायिक प्रशिक्षण पाया और लगभग ४ करोड ने कॉलेज मे दाखिला लिया। दस हजार से अधिक लडकियों ने विशिष्ट धधो की उच्च शिक्षा प्राप्त की। फिर भी देश म पद्रह स बीस करोड स्त्रिया अशिक्षित है जिन्हें मानो सूर्य की किरण अभी छू ही नही गई है। इसीलिए कोठारी शिक्षा आयोग ने सुझाव दिया कि नारी-शिक्षा को एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम का दर्जा देना ही होगा और स्त्री-पुरुष की शिक्षा के बीच की खाई पाटने के लिए सतर्क और मजबूत कदम उठाने होंगे। इस काम के लिए धनराशि नियत करने मे प्राथमिकता दी जानी चाहिए और केन्द्र व राज्य दोनो सरकारो को विशेष उपाय कार्यान्वित करने चाहिए ताकि महिला-शिक्षा का समुचित प्रबध और प्रसार-प्रचार हो।

इन्हीं पच्चीस वर्षों के भीतर चार एस वैधानिक परिवर्तन सम्मुख आए जिन्होंने स्त्री स्वाधीनता की रफ्तार सचमुच ही तेज कर दी। शताब्दियो तक भारतीय स्त्री के लिए पृथक् सपत्ति की कोई व्यवस्था नही थी। सन १८७४ म पहली बार विवाहिता स्त्रियो को यह अधिकार मिला था कि वह अपनी कमाई को, चाहे वह कलात्मक निर्माणो द्वारा प्राप्त हो या किसी अन्य उद्योग द्वारा, अपना कह सकें। अन्यथा उसपर भी पुरुष का अधिकार था। धीरे-धीरे अचल सपत्ति के

बटवारे में स्त्रियों को भी सम्मिलित किया जाने लगा किन्तु फिर भी वह उसकी न बपौती थी, न कानूनी हक। इस दिशा में क्रांतिकारी हलचल मची १९५७ में, जब पत्नी को पुत्र के समकक्ष पति की सम्पत्ति का समान हकदार स्वीकार किया गया और अविवाहित स्त्री व परित्यक्ता पत्नी को भी बच्चा गोद लेने का हक दिया गया। बाद में जब पुत्र और पुत्री को समान रूप से पिता की चल-अचल सम्पत्ति का वारिस ठहराया गया तब तो मानो स्त्री-दासता की जंजीर की कड़िया ही टूट गईं।

दूसरा महत्त्वपूर्ण कदम उठाया गया विवाह और तलाक-संबंधी नियमों के सुधार में। १९५५ के हिन्दू कोड बिल और हिन्दू विवाह ऐक्ट में बहु-विवाह कानूनन निषिद्ध कर दिया गया और स्त्री व पुरुष को तलाक के समान अधिकार दिए गए। तलाक की शर्तों में लचीलापन लाया गया। फलतः उस स्त्री को जीवन की संभावना फिर से मिली, जो पुरुष के अत्याचार और अनाचार से दम तोड़ रही थी।

१९५६ में वेश्यावृत्ति को गैरकानूनी करार करके, स्वाधीन भारत ने स्त्री के सम्मान की रक्षा की एक और ढाल तैयार की। वासना के हाट में उपकरण की तरह बिकती स्त्री को मनुष्यत्व और व्यक्तित्व लौटाया गया। कुछ आलोचकों का मत है कि चकले और बाजार उठाकर गंदगी अब हर मुहल्ले में बिखरा दी गई है। किन्तु इसमें इंकार नहीं किया जा सकता कि सजा का डर गुनहगारों को सहमा देता है। उनके उद्दंड हाथों में हथकड़ी की संभावना तो वह बना ही देता है।

एक चौथाई शताब्दी का सर्वमान्य, सक्षम निर्भीक कार्य १९७१ में हुआ। गर्भपात को न्याय-सम्मत मान लिया गया। इस कानून ने अनचाहे मातृत्व के बोझ को अकेली उठाती कुआरियों, पिछड़े परिवारों की घिसी-पीटी लकीरों को पीटती बहुओं की निरंतर जर्जर और क्षीण होती काया को निपट अंधेरे में निस्तार का का मार्ग सुझाया है।

संविधान अधिकार दे सकता है, और न्यायालय अधिकारों की रक्षा कर सकता है, लेकिन दोनों तभी हो पाते हैं जब स्वयं अपने में अधिकार के लिए लड़ने की मजबूती हो और उससे भी पहले अपने अधिकारों की समझ हो। बात लौटकर फिर शिक्षा पर आती है। भारत में असाधारण महिलाओं की कमी नहीं। जीवन के हर क्षेत्र में भारतीय नागरिकों ने अपने कौशल दिखाए हैं। लेकिन सामान्य भारतीय नारी अपनी सामाजिक सीमाओं, अवरोधों से उबर नहीं पाई है। यह संघर्ष अभी अर्से तक जारी रहेगा। तब तक, जब तक असाधारणता, सामान्य और साधारण उपलब्धि नहीं हो जाती।

घरे वाहरे : आदम हव्वा !

जी, क्या होगा आपकी और हमारी गृहस्थी का ? शायद गाडी कही चरमरा कर दलदल मे धस जाएगी शायद ऊची महल भहराकर मिट्टी म मिल जाएगा। लेकिन यह भी तो हो सकता है कि कीचड मे अचानक कमल खिलने लगें। सच तो यह है कि नर-मादा के ममल उस दिन स और रगीन हो गए जिस दिन स्त्रिया उगते सूरज से नजरें मिलाने के लिए चिलमन मे यो निकल आईं जैसे काली घटाओ से चाद। अकबर इलाहाबादी ने कहा है

"बपर्दा नजर आई, जो कल चद बीबिया,
'अकबर' जमी म गैरते-कौमी से गड गया,
पूछा जो उनसे आपका पर्दा कहा गया ?'
कहने लगी, कि अक्ल पे मर्दों की पड गया'।"

अब यह पर्दा कहा से उठा और कहा गिरा—इसका फैसला कौन करे ? इस बारे मे कोई स्त्री कुछ बोले तो झट उसपर इलजाम आ जाएगा। उसने स्त्रियो की ओर म कुछ कहा तो दोषारोपण साफ ही है। लेकिन कही पुरुषों की तरफदारी कर दी तब तो अपनी बिरादरी म हुक्का पानी ही बद हो जाएगा। खैर, जिन्दगी खतरे उठाने का ही नाम है। राम का नाम लेकर बढ चलत है तसल्ली के साथ कि :

'वो तिफल क्या गिरेंग जो घुटना के बल चले ?"

प्रश्न समान अधिकारो का है। बराबरी हमने कई तरह की देखी। एक का प्रदर्शन पुरुषा ने जुल्फें बढाकर और रग बिरगी, फूल-पत्तीदार पोशाक जिस्म पर लहराकर किया। दूसरी तरफ लडकियो ने डेढ इची बाल रखकर, बाकी जमाने की रफ्तार म बहा दिए। एक ओर मर्दाने कुर्तों मे कच्छ का काम, तिल्ला जरी और गोटे के फूल उभरने लग तो दूसरी ओर कन्याओ ने फहराती साडियो और

नाचते गरारों को बालाए ताक कर उड़े रंगों की मोटी-झोटी जीन्स चढ़ा ली।

हमने सुना, जमाना यूनी-सेक्स का है। औरत और मर्द क्यों लड़ें—फर्क ही क्या है दोनों में? दोनों दोस्त हैं, हमदर्द हैं और हमनवा हैं। जरूर होंगे। लेकिन फिर कुछ सवालों का जवाब उन्हें देना होगा।

मेरी एक सहेली है—जितनी खूबसूरत उतनी ही खुशमिजाज। उसकी जितनी तारीफ की जाए, कम। भरत-नाट्यम में वह महारत रखती है, सुब्बुलक्ष्मी की तरह गाती है, खाना पकाने में चुस्त, बेटी को सजा-सवारकर रखने में उसका सानी नहीं। उससे भी बड़ी बात यह है कि चार अक्लमंदों में बैठकर बहस छेड़ दे तो मिनटों में उन्हें चारों खाने चित्त कर दे।

एक दिन उसमें और उसके पति में ठन गई। यों भी प्यार का वजन अक्सर मीठी तकरार से तोला जाता है। लेकिन बहस में आठ साल पुराने ब्याह की कम-से कम आठ तोला तुर्शी तो घुल चुकी थी। चुनांचे जब मेरी सखी के पति को ठीक समय पर नाश्ता नहीं मिला तब वह तुनककर बोले, 'तुम्हारी लापरवाही से मेरी नौकरी चली जाएगी और छूमंतर हो जाएंगे तुम्हारे सारे धूम-धड़ाके। जब फाके करने पड़ेंगे तब छठी का दूध याद आ जाएगा।"

पत्नी पहले तो हक्की-बक्की रह गई। लेकिन जब बात का अर्थ बुद्धि की तह तक उतरा तब गुस्सा रफूचक्कर और वह बेसाख्ता खिलखिलाकर हंस पड़ी। पति आग बबूला हुए जाएं और श्रीमतीजी की फुलझड़ी थमने का नाम न ले। असलियत यह थी कि जितना पति कमाते थे, उतना ही पत्नी कमाती थी। अगर गृहस्थी में ऐश थे तो दोनों की कमाई की बदौलत और सच तो यह था कि पत्नी के चलते कम-से-कम पति को भूखों मरने की नौबत जीवन में कभी न आती। दोनों सही अर्थों में हमराही थे। गृहस्थी की रोशनी के नेगेटिव-पोजिटिव तार। दोनों में से एक भी निकल जाता तो जिन्दगी मोमबत्ती के सहारे उगलती।

पुरुष शायद यह कभी बर्दाश्त नहीं कर सकता कि स्त्री आत्मनिर्भर हो जाए। वह छतनार वृक्ष की भांति औरत को अपने सहारे बढ़ती-चढ़ती बेल की तरह लिपटाए रखना चाहता है। उसे कब सहन है कि वह बेल एक छोटा-सा पौधा बन जाए और खुद जमीन से रस खींचकर मोतिया की तरह महकने लगे या टमाटर की तरह फलने लगे। सदियों से आज तक उसका सबसे बड़ा हथियार रहा है—धन। इसीलिए उसने औरत को गहनों से रिझाया। नाक में नथनी, नकेल और पैरों में भारी पाजेब पहना दी फिर प्यार का जाल डालता हुआ बोला, 'देख, मेरी आंखें तेरा आईना हैं। इनमें तू सोने से मढ़ी मोम की पुतली की तरह दमकती है।" फिर एक सुबह औरत ने पाया कि वह सोने के ताने और प्यार के बाने से बुने गृहस्थी के जर्क-बर्क पिंजरे में कैद है। जब उसने आजादी के लिए पंख फड़फड़ाए तब उसे नाजुक पंखों और बेदर्द फिजा की दुहाई देकर ताजी हवा से और दूर कर दिया

गया।

शायद वह सकते है कि यह पुराने जमाने की बात है। आज का प्रश्न यह नहीं। लेकिन जब मेरी सहेली का पति इतनी सचर और बेपर की उडाता है तब उसमे वही सदियो पुरानी मध उभर आती है। उसी जाल की सुनहरी कौंध दिखाई देने लगती है जिसने खुद आज के पुरुष को इतना चौंधियाया है कि उसे नये जमाने की असलियत कितनी ही बद हो गई। वह पुरानी तर्ज पर गाता चला गया जब कि नई रागिनी कुछ और ही माग करती थी। यह नहीं कि तस्वीर का दूसरा पहलू नहो है। या मेरी खुद की नजर पर ऐसा रगीन चश्मा है कि ऐसे दृश्य दिखाई ही न दें। बहुत-स खानदानो मे स्वर्ग सा घर नरक बन गया है, क्योंकि पति-पत्नी अपने-अपने हक के लिए लडने मे इतने उलझे हुए हैं कि वे यह भूल बैठे कि नुकसान-हानी उनकी मजिल है, न कि लडाई म जीत।

अक्सर लगता है कि हम अधिकारो के सिर ऊपरी अर्थों पर जाते है। जब कहा जाता है कि दोनो को बराबर का हक मिलना चाहिए तब हमारे मन म सिर्फ इतना आता है कि दोनो को नौकरी करने की इजाजत हो, दोनो प्रणय के क्षेत्र मे आजादी बरतें, स्त्रिया इजीनियर बन सकें, और आदमी बच्चा पालन से न कतराए। यह विचार हम बहुत सीमित कर देता है। हम इतनी मोटी चीजो को प्राथमिकता दे बैठते हैं कि सूक्ष्म दृष्टि बालू मे जल बिन्दु होकर रह जाती है।

जब तक शादिया होगी और बच्चो को मा बाप के साथ की जरूरत होगी—उसे ऐसा चाबी से चलने वाला खिलौना नही मान लिया जाएगा कि सरकार ने उसका पेट भरा, उसे स्कूल म पढाया, काम सिखाया और एक जानदार पुतला तैयार कर लिया—तब तक गृहस्थी की तराजू के पलडे ऊपर-नीचे ही होते रहेंगे। पश्चिम की तेज आधियो के बावजूद अभी हमारे पैर अपनी जमीन से उखड़े नहो हैं और इसीलिए फिलहाल ऐसा खतरा यहा दिखाई नही देता। अभी हमारे लिए घर घर है, होटल या सराय नहीं। स्त्री और पुरुष जिम्मेदार नागरिक हैं। माता पिता केवल शारीरिक भूख मिटाने के दो उपकरणमात्र नही हैं। ऐसी हालत मे दोनो के कधो पर एक सा बोझ है— बल्कि बोझ भी उसे क्यो कहें ? घर बसाना, कया परेशानियो को आगे बढकर प्यार म बाहो म समेट लेना नही है ? यह बात सुनने मे रोमांटिक जरूर लगती है, लेकिन असल मे यह एक ऐसी सचाई है जिसे माने बिना एक कदम भी चलना दूभर है।

क्या कभी सुनने म आया कि पत्नी की मिजाजपुर्सी के लिए पति ने दफ्तर म अर्जी भेजी हो ? लेकिन पत्नियां अकसर इस तरह के मानसिक तनावो म उलझकर ऐसा करती हैं। यहा यह तात्पर्य नही कि आदमी छुट्टी ले, औरत न ले। बात इतनी ही है कि सारी स्वच्छदता के बावजूद स्त्री का यह समझ लेना पडता है कि उसे घर को प्राथमिकता देनी है—उसकी नौकरी, उसका कला-प्रेम और उसके मित्र

तथा सबधी बाद मे आते हैं। अधिकाशत. इस निर्णय के पीछे कोई तनाव की भावना काम नही कर रही होती। यह तो सीधा वास्तविकता को झेलने का प्रश्न है। जी न चाहने पर भी दफ्तर की हाजिरी बजाना पुरुष की किस्मत है और घर की पुकार पर बेहद जरूरी मीटिंग की तरफ से आखें मूद लेना स्त्री का भाग्य। लेकिन दोनों मे अपने गढे हुए, अपने बनाए हुए। जो अपनी सीमा तोड दे, वही अपराधी। शहीदाना अदा स्वीकार कर ली तो भी किए-कराए पर पानी फिर गया। और आधुनिक होकर क्या करे अगर उसकी खुशी ही उसमे छिन जाए !

तर्क किया जा सकता है कि, तब, अगर जापान मे एक ही काम के लिए स्त्री को पुरुष से कम वेतन मिलता है, या पश्चिम के कुछ देशों मे जिम्मेदार पदों पर स्त्रियों को नही बैठाया जाता, तो यह ठीक ही है। यह भी पुरुषों की दलबदी नही, सचाई का स्वीकार है। फिर अपने पुराने प्रश्न पर लौटें कि समानता का सबध गहराइयो से है। जिन्दगी के एक मोड पर आकर हमें तय करना पडता है कि अपना सुख कहा बसता है।

हमारे एक मित्र हैं। बडे गुणी, सज्जन और विचारवान। अपने विद्यार्थीकाल से ही मेधावी रहे हैं। नौकरी के सिलसिले म एक दोराहे पर आ खडे हुए। एक ओर बैंक की नौकरी थी और दूसरी ओर अखबारी रिपोर्टिंग। रिपोर्टिंग की तरफ रुझान था लेकिन वे इस बात से अनभिज्ञ नही थे कि इसमें गए तो दोपहर दफ्तर मे और शाम रातें प्रेस क्लब मे जाम चढाते और रोमाचक कहानिया ढूढते बीतेंगी। मतलब यह कि घर की जिन्दगी चौपट हो जाएगी। हमारे बधु ने बहुत सोच-विचार के बाद यह खतरा न उठाकर बैंक की लगी-बधी नौकरी को चुन लिया। तात्पर्य यह कि पुरुष हो या स्त्री—कभी-न-कभी, कही-न-कही रास्ते तय कर लेने का सवाल उसके सामने आ खडा होता है। जब वह एक रास्ता चुन लेता है तब उसके बाद रोते रहना नामर्दगी है—औरत के लिए भी और मर्द के लिए भी।

वास्तव मे बिना दबाव के अपनी खुशी चुन लेने, उसके लिए लडने की ताकत जुटाने और अपनी पसद से, अपने फैसले से कुर्बानी देने का समानाधिकार हर एक को मिलना चाहिए। लेकिन इसका मतलब यह कहा हुआ कि अब बेगम साहिबा तवे पर अगुलिया नहीं जलाएगी और साहब हुजूर स्टैग पार्टी म नही जाएगे या दोस्तों के साथ बिना बीबी सिनेमा नही देखेंगे ? जिसने बराबरी के य अर्थ लिए, उसकी बुद्धि तरस खाने लायक हो गई। उसके लिए खुदा से दुआ मागने का मन होता है कि इस भोले इसान को सही रास्ता बता—इसके आगे दलदल है और यह देख नही सकता।

छोटी-सी बड़ी समस्या

अपनी रिश्तेदारी म एक शादी होकर चुकी थी। लडका अच्छे परिवार का था, और लडकी भी सम्भ्रात कुल से थी। निकट सम्बन्धी होने के नाते रिश्ते की शुरुआत मे, लेन-देन, दान-दहेज, गहना-कपडा, सबका खर्च और तैयारी नजदीक से देखनी पडी। उस दौरान कई बार चाहे-अनचाहे यह खयाल आया कि लडके की शादी मे खर्च का यह हाल है तो मैं तो तीन बेटियो की मा हू। एक दिन मन मे बेचैनी ज्यादा बढी तो अपनी मा स जिक्र कर बैठी। उन्होने कहा, "उनके एक ही तो लडका है—शौक म सब कुछ कर रहे है। कोई रोज-रोज तो यह दिन आता नही।" ठीक कहा उन्होने। फिर खयाल आया कि उन लोगो के एक लडकी भी तो है—शादी लायक। उसकी शादी किसी भी दिन तय हो सकती है। एक-दम दूसरा खर्च वे लोग कैसे उठाएगे? इस सवाल का भी सरल सा जवाब मेरी मा न दे दिया, "बेटे के ब्याह म जो आया है, उसम से बहुत-सा सामान ज्यो-का-त्यो बेटी को दे देंगे।" मेरी आधुनिक तर्क बुद्धि जाग उठी। मैंने सोचा कि बस यही मेरी सरल हृदया मा धोखा खा गई। कौन बहू यह चाहेगी कि उसके पीहर से आया सामान उठाकर ननद को दे दिया जाए? यही कलह का कारण हो जाएगा और घर की शाति भग कर जाएगा। लेकिन मैं फिर हार गई। समाज का मनोविज्ञान सहज ही आत्मसात् कर लेने वाली, दूरदेशी और लोकनीति को अनुभव स पहचानने वाली मा बोली, "एक ही तो ननद है। बहू सोचेगी कि उसको खूब दे दिवाकर यश कमा लू। उसके बाद तो अपना राज्य है। और कोई जिम्मेदारी तीसरे पर है नही।"

उनकी यह बात इतनी तर्कसगत थी कि मैं निरुत्तर हो गई। बिरादरी वालो का लडके को इतना बढा-चढाकर देना, लम्बा-चौडा लेन-देन इस सबपर मेरे भीतर जो एक झुझलाहट थी, वह इस वाक्य से टकराकर टूट गई, 'एक ही

तो बेटा है।' साथ ही यह भी विचार आया कि किस तरह ननद का इकलौता होना एक बहू को उदारता की ओर सहजता से बढाता चला जाएगा। यही चीज सास का मन जीत लेगी और एक वही घटना जो घर-घर मे चूल्हे अलग करवा जाती है, इस घर को स्वर्ग बना जाएगी।

हमारे यहा चौका-बर्तन करने एक महरी आती है। एक क्या, बल्कि दो आती हैं—कभी सावली, कभी गोरी। सावली महरी का नाम है पच्छिमा और गोरी का लच्छिमा। सावली उम्र की बडी है—उसके साथ कम-से-कम आधे दर्जन बच्चे चिल्ल-पो मचाते आते हैं और वह काम करती हुई बराबर उन्हें तेलुगु भाषा में डाटती डपटती रहती है। लेकिन काम हसती हसती कर जाती है और सूखे, काले, अधनगे बच्चो की फौज बगल और पल्ले से लटकाए निकल जाती है। आए दिन उसे पेशगी चाहिए—या तो उसके बच्चा होने वाला है या कोई बच्चा बीमारी म आखिरी सासें गिन रहा है। दो-एक साल मैंने उसके बच्चों की गिनती रखनी चाही लेकिन हारकर छोड दी। न जाने कब उनमे जमा-खर्च हो जाया करता था। लेकिन जब जब गोरी लच्छिमा काम करने आई—वह साफ सुथरे कपडे पहने होती है, बाल सलीके से बधे रहते लेकिन उसके काम की जरा-सी नुक्ताचीनी की नही कि वह आग बबूला हो उठती है और चडी का रूप धारण कर पैर पटकती फटाक से घर से बाहर निकल जाती है। पूछने पर पता चला कि दोनो एक ही आदमी की बीविया हैं। लच्छिमा दूसरी बीवी है लेकिन उसका बच्चा नही है इसलिए उसका आदमी उसे बहुत मारता है। मेरी अक्ल चकरा गई। पिता बनने की भूख कितनी बडी है! पच्छिमा ही क्या वश-बेल बढाने को काफी न थी? दूसरी शादी और उसम भी सतान पाने की ऐसी अदम्य इच्छा!

एक विदेशी पत्रिका मे पढा था कि कुछ विद्वानो ने एक प्रयोग किया। जमीन का एक टुकडा लेकर उसमे दस चूहे-दम्पति वहा रख दिए। उनके खाने पीने की सारी सुविधाए वहा मौजूद थी। खुशहाल जिन्दगी का एक स्वर्ग उनके लिए बसाया गया। धीरे धीरे उनकी वश-वृद्धि हुई। निरीक्षण म आया कि सुविधाए और जीवन-सघर्ष कम होने के कारण चूहो के बच्चे बहुत होशियार होते जा रहे हैं। उनके बिल अब ज्यादा मजबूत बनने लगे हैं। आपसी आदान-प्रदान सहानुभूतिपूर्ण है। एक चूहा बीमार पडता है तो सब उसकी तीमारदारी करने आते हैं। स्वस्थ और सुन्दर समाज की स्थापना हो रही है। लेकिन वश-वृद्धि होती ही चली गई। खाना-पीना मिलता रहा लेकिन जगह उतनी ही रही। धीरे-धीरे चूहो की तादाद इतनी बढ गई कि वे चलते-फिरते एक-दूसरे से टकराने लगे। एक-एक बिल म कई-कई परिवारो को रहना पडा। और देखा गया कि चूहो मे निर्दयता की भावना आ रही है। वे अपराधी होते जा रहे है। उन्होंने गुट बना लिए हैं और रात म अचानक एक-दूसरे पर हमला कर देते हैं—दूसरे गुट के बच्चो को

मार डालते है और उनकी चुहिया को जबरदस्ती उठाकर ले जाते हैं। दूसरो के बिल से दाना चुरा लाते हैं जबकि उनके अपने बिल मे खाने की कोई कमी नही है। यही नही, उनमे यौन-विकृतिया बढती जा रही हैं—वे समलिंग प्रेमी होते जा रहे हैं। रात-रात भर जागते हैं और सारे दिन सोते हैं। और फिर एक दिन सारे चूहों मे एक भयानक युद्ध छिड गया। छ घण्टे की लगातार मार-काट के बाद सैकडो चूहो मे पद्रह चूहे ही जिंदा बचे। उनमे भी कोई अधा हो गया था कोई लूला-लगडा, किसीके शरीर से खून बह रहा था और कोई प्यास और तकलीफ से चिल्ला रहा था।

प्रयोग के इस भयकर नतीजे न मुझे इतना आतकित कर दिया कि जब मै सडक पर निकलती और कोई मुझसे टकरा जाता तो मेरे रोगटे खडे हो जाते। बस के लिए लगी लम्बी क्यू देखती तो जी घबरा उठता तबीयत मिचला जाती। सोते सोते लगता, जैसे छाती पर किसीने पत्थर रख दिया है। सपना देखती कि अणु विस्फोट की छतरी की तरह पल पल बढते आत्माहीन शरीर हमारे सिर पर छाए हुए हैं। सुबह उठती तो लगता, हम क्या हो गया है ? हम किस गफलत की नीद म डूबे हुए हैं—कब जागेंगे ? बिहारी का एक दोहा है

'अति अगाध अति औथरो नदी कूप सर बाय।
सो ताको सागर जहा जाकी प्यास बुझाय॥

समाजशास्त्रियो का कहना है कि हर जीव को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए वायुमण्डल के एक नियत टुकडे की जरूरत होती है। जब धरती पर जीव इतने बढ जाते है कि उन्हे अपना निश्चित खड नही मिल पाता तो वे दूसरो के व्यक्तित्व क्षेत्र म घुसपैठ करने लगते है। इससे टकराहट पैदा होती है और इसान का व्यक्तित्व टूटने लगता है। अस्तित्व बार बार रगड खाता है—उद्विग्न हो उठता है। तब वह ऐसे काम करता है जो अशोभनीय हैं समाज-विरोधी है। यह आकाश यो तो इतना बडा है लेकिन इसका हर अश सबके लिए बराबर बटा हुआ है। जब कोई मेरे आकाश के नीचे पसरने लगता है तो मेरा दम घुटने लगता है जैसे एक मन म जब हजार सवाल, लाखो भाव एकसाथ आकर शोर मचाने लगते हैं तो बुद्धि बहरी हो जाती है—अपना सतुलन खो बैठती है। तब मनुष्य कवि से शब्द लेकर कहता है

'मेरा आकाश छोटा हो गया है
मुझे नीद नही आती।

संयुक्त परिवार : एक मीठी कसक

अंग्रेजी के जाने-माने लेखक आर्थर केस्लर ने अपनी पुस्तक 'लोटस एण्ड द रोबोट' में लिखा है कि भारत में एक महोदय के घर जाने पर केस्लर ने उन्हें सिगरेट पेश की, तो उन्होंने लेने से इंकार कर दिया। केस्लर को हैरानी हुई, क्योंकि यही महोदय कुछ समय पहले मजे से सिगरेट फूंक रहे थे। कारण पूछने पर पता लगा कि वह घर में पिताजी के सामने सिगरेट नहीं पीते। केस्लर ने प्रश्न किया कि जब वे नहीं रहेंगे तो आप आराम से, आजादी से सिगरेट पी सकेंगे? जवाब मिला—'बेशक'। केस्लर के वैचारिक कम्प्यूटर ने तुरत हिसाब लगाया कि कहीं-न-कहीं मन की किसी तह में ये सज्जन अपने पिता की मृत्यु की प्रतीक्षा में हैं।

यह एक अनभिज्ञ दृष्टि की अति हो सकती है, लेकिन इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि संयुक्त परिवार में रहना हर क्षण विभिन्न तौर तरीकों और विपरीत दृष्टिकोणों की सामेदारी का हिसाब-किताब बैठाना है। अक्सर यह माप-तौल करते-करते व्यक्ति झुंझलाहट के ऐसे असाध्य मोड पर पहुंच जाता है जहां एक कदम भी आगे बढ़ना उसके लिए असम्भव हो जाता है और वह अपना चूल्हा अलग कर अपनी खिचडी आप पकाने पर मजबूर हो जाता है। उस क्षण की जली खिचडी भी उसे खीर का स्वाद देती है, क्योंकि वह आत्मनिर्भर हो चुका है—स्वाधीनता के लिए कोई मूल्य चुकाना उसे भारी नहीं जान पडता।

सभ्यता के प्रारंभिक पृष्ठ पलटें तो हम पाएंगे कि इंसान ने परिवार की नींव 'भय' के आधार पर रखी थी। ताकतवर भुजाओं का सहारा लेकर, पत्थरों के उल्टे-सीधे औजार बनाए वह हर सुबह शिकार की खोज में निकल जाता था। दिन-भर जानवरों और चिड़ियों को मारता घूमता था। शाम को थका-हारा जब गुफा में लौटता तो वहां औरतों और बच्चों को सही-सलामत पाने का कोई

आश्वासन उसे प्राप्त नहीं था। रात को जब जंगली हवाएं गुफा के बाहर चीखती चलती और अंधेरा साय-साय करता हुआ गुफा में समुद्र की तरह उमड़ आता तो वहां दुबके सारे लोग डरकर एक कोने में सिमट आते और सुबह का सूरज निकलने पर उसको प्रणाम करते कि एक रात की जिन्दगी उन्हें और बख्शी गई। खुशी के क्षण हम उतने पास नहीं लाते जितने एकसाथ झेले गए दुख या खतरे के। धीरे-धीरे हम साथ रहनेवालों में एक स्वाभाविक अपनापन बढ़ता गया। समझदार मनुष्य ने कमजोर और शक्तिवान व्यक्ति की सीमाओं और सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें अलग-अलग तरह की जिम्मेदारियां बांट दीं। सुरक्षा की एक-सी आवश्यकता ने समाज की नींव डाली। धीरे-धीरे रिवाज बनने लगे - भावात्मक, शारीरिक व्यक्तिगत, फिर सामाजिक और अंत में कानूनी।

एक परिवार में कितने भी व्यक्ति हों, उन्हें बांधने वाली एक ही चीज है कि वे एक-दूसरे की जरूरत को कितना पूरा कर पाते हैं। हर व्यक्ति मूलतः स्वार्थी है। यदि उसे कुछ प्राप्त नहीं तो वह भी कुछ देने को तैयार नहीं। यों तो स्वार्थ की सीमा का भी मनचाहा विस्तार किया जा सकता है। वह संकरी से संकरी और चौड़ी-से चौड़ी हो सकती है। मां जब बीमार बच्चे को गोद में लिए सारी रात एक करवट आसन में काट देती है तो वह भी उसका अपना स्वार्थ है। वह रातों-रात इसलिए नहीं जागती कि वह उसकी जिम्मेदारी है, उसे निभानी ही होगी, बल्कि इसलिए कि उसकी आत्मा की नींद उड़ गई है उसकी भूख-प्यास बच्चे की तपती देह में झुलस गई है और उसे न सोने, न खाने में ही राहत मिल रही है। मुसीबत तो यह है कि मनुष्य वास्तविकता का दर्पण अपने सामने हर समय नहीं रख पाता। बड़े-बूढ़े अक्सर जमाने की शिकायत करते हुए कहते हैं कि उन्होंने अपने बेटों को पढ़ाया लिखाया कितनी-कितनी मुसीबतें उठाकर उन्हें दुनिया का हर सुख-चैन दिलाया और आज 'नालायक पलटकर उनकी ओर देखते तक नहीं। उस समय उनसे यदि कहा जाए कि बुजुर्गवार, आपने जो इन नालायकों के लिए किया वह एक पिता ने अपने बच्चों के लिए किया। वह आपने खुद अपने लिए किया था क्योंकि उसे किए बिना आपको आंतरिक सुख न मिलता,' तो शायद नाराज हो जाएं।

असलियत यह है कि समझौता जरूरी है। जब इंसान को जिन्दा रहने के लिए अपने से समझौता करना पड़ता है तो औरों की तो बात ही क्या? समझौते में किसी हद तक तो 'कुछ तुम बढ़ो, कुछ हम बढ़ें' वाली बात है लेकिन आखिर में जाकर एक ऐसा बिन्दु आता है जहां एक न-एक को अधिक झुकना पड़ता है और यही मुसीबत की जड़ है। भारतीय परिवारों में रीतियां और नीतियां सदा से ही मजबूत रही हैं। जो घर में सबसे बड़ा है, उसकी बात टालना ठीक नहीं समझा जाता था। चूल्हे का क्षेत्र मां का, कपड़ा लत्तों का बहुओं का कमाना काम बेटों

का और खर्च तय करना अनुभवी पिता का क्षेत्र था। सारे बेटे एक खेत जोतते थे या एक जमींदारी की देखभाल करते थे। सबकी कमाई सबकी थी, रहन सहन का तौर-तरीका एक सा था—एक ही बैठक, एक रसोई, सबके बच्चों के लिए एक अलग सोने का कमरा। आपस में बेहद लिहाज था। बड़े का, छोटे का, उठने-बैठने, बोलने चालने का नियत कायदा था। एक निर्धारित चौखटा था जिसमें हर रिश्ते की कील सही जगह ठुकी थी। कोई अपनी लीक से हटने की कोशिश करता तो या तो सारा परिवार उसपर दबाव डालकर उसे सीधा कर लेता था या अपने दायरे से अलग कर देता था। वैसे उनकी जरूरतें भी आज के अनुपात में संक्षिप्त और काफी सपाट थीं।

जमाने के साथ-साथ जरूरतें बदलती चली जाती हैं। सिर्फ जरूरतें ही क्यों, मूल्य भी कुछ-के कुछ हो जाते हैं। आज एक पिता के चार बेटों में एक साहित्यकार हो जाता है तो दूसरा इंजीनियर, तीसरा डॉक्टर और चौथा व्यापारी। उनके काम का वक्त अलग है, ढंग अलग है, उनकी मित्र-मंडली अलग-अलग है, उनकी परिचर्या अलग अलग स्वभावों की है, एक भाई सादगीपसन्द है तो दूसरा दीवारों और छतों को नीले-पीले रंगों से सजाकर घर को 'डिस्कोथेक' बना डालना चाहता है। एक की पत्नी काम से थकी-थकाई लौटकर रात को किताब पढ़ती हुई दस बजे बत्ती गुल कर देना चाहती है, तो दूसरे की पत्नी सारे दिन के घरेलू काम से ऊबी बारह बजे तक गप्प लगाना चाहती है। एक पूरब को जाता है तो दूसरा पश्चिम को। एक को हरी सब्जी का चक्कर तो दूसरे का ग्रास भुने गोश्त के बगैर गले से नीचे नहीं उतरता। अब कैसे चले एक बैठक और एक रसोई से काम? हरेक को एक स्वतंत्र छत की जरूरत महसूस होने लगती है। जहां तक दुख-दर्द बांटने का सवाल है—हंसी-खुशी में शामिल होने की बात है, या एक-दूसरे के बच्चों की यदा-कदा देखभाल की जरूरत है, तो वह अलग-अलग रहते हुए भी संभव है। आज का युग व्यक्तित्व को संवारने का युग है। बड़े खानदानों में जहां एक ओर सबके कष्ट बांटने से अपने दुख हल्के होते दिखाई देते हैं वहीं हरेक की समस्या अपने गले पड़ने का खतरा भी बना रहता है। खिंचाव और तरफदारियों के सच्चे-झूठे वहम व्यर्थ ही रिश्तों की मिठास में कड़वाहट घोलते रहते हैं। छोटी और बड़ी आमदनियां दिल जलाती हैं, दूसरे की तरक्की बिना बात खुद का मजाक उड़ाती जान पड़ती है।

आज जिन्दगी की पेचीदगी कुछ ऐसी बढ़ी है कि बड़े-बूढ़ों की शिक्षाएं अब मरहम का काम नहीं कर पातीं और इंसान दिन-प्रतिदिन अकेला, और अकेला होता चला जा रहा है। जीवन एक नई पहेली, नई मुश्किल बनकर सामने आ खड़ा हुआ है। इस मुश्किल में उसे अकेले जूझना होगा—नये तरीकों को अपनाना होगा, और शायद यह वह तब तक न कर पाए जब तक पुरानी लीकों के बोझ से

अपने कधे आजाद न कर ले। इसके यह अर्थ नही कि अब एक परिवार मे बूढे मा-बाप के लिए जगह नही रही। लहू का सम्बन्ध यो समाप्त नही होता। इसान की दूरदृष्टि अगले मोड पर खडे खुद अपने भविष्य को देख सकती है और प्रेम भी अभी दुनिया से उठा नही है। बात सिर्फ इतनी ही है कि फैलाव इतना न फैलाया जाए कि समेटे मे ही न आए।

लकवा लगा आधा अंग

अक्सर पढ़-लिखे और अपने को समझदार समझने वाले पुरुष कहते सुने जाते हैं कि स्त्री की दीन दशा की चर्चा बेकार बात है। वे अपनी पुष्टि में कुछ उदाहरण देते हैं—इंदिरा गांधी, भण्डार नायके और गोल्डा मेयर जैसी अनुभवी राजनीतिज्ञ, मैडम क्यूरी, वैलेंटीना, नरेश्कोवा व एवरेस्ट-विजेता जुनकोतावे जैसी वैज्ञानिक, अंतरिक्ष-यात्री और साहसिक भ्रमणकारी, नोबेल पुरस्कार विजेता पर्ल बक। इन नामों के आधार पर उनका दावा है कि आज नारी को समाज में भाग लेने का पूरा अधिकार प्राप्त है। ऐसे असाधारण दृष्टांत हमेशा रहे हैं। अपने ही देश में गार्गी, लीलावती, रजिया सुल्ताना, नूरजहां, मीराबाई, अहिल्या-बाई, झांसी की रानी आदि अनेक महत्त्वपूर्ण महिलाएं जन्म ले चुकी हैं किन्तु क्या इनके आधार पर हम सचमुच यह दावा कर सकते हैं कि भारत में स्त्री की दशा कभी शोचनीय नहीं रही? क्या इससे यह सिद्ध होता है कि भारत में पौष्टिक खुराक की कमी और उपेक्षा के कारण स्त्रियों की मृत्यु-संख्या पुरुषों से ज्यादा नहीं है?

जगमगाते नामों की यह सूची सिर्फ इतना सिद्ध करती है कि अवसर मिलने पर औरत सब कुछ कर सकती है। उसकी शक्ति और क्षमता सीमाहीन है, वह पुरुष से कहीं भी हेय नहीं। लेकिन इससे इंकार नहीं किया जा सकता है कि आज भी अनेक परिवारों में लड़के के पैदा होने पर खुशी से थाल बजाया जाता है और लड़की के पैदा होने पर सबके चेहरों पर मातम छा जाता है। आज का समाज स्त्री के संदर्भ में निरन्तर दोगले नैतिक मानदण्डों से चालित है। यहां तक कि जब स्त्री पुरुष के मुकाबले हाड़-तोड़ मेहनत भी करती है तो चाहे वह ईंट ढोए, पत्थर कूटे, धान रोपे या बाजू फोड़े, उसे पुरुष से कम मजदूरी दी जाती है। कम आयु में विवाह, दहेज और पर्दा उसे कुचलकर रख देते हैं। इसपर

अनचाहे मातृत्व का बोझ उसे उम्र भर को रोगी बना जाता है। न जाने कितनी पीड़िताएं दुख की सीमा पर पहुंचकर आत्महत्या कर लेती हैं। ऐसे में क्या आश्चर्य कि दबी-ढकी सहमी कुछ स्त्रियां मानसिक कुंठाओं से ग्रस्त हो जाती हैं। किसीको भूत-प्रेत आने लगते हैं तो कोई मिर्गी में पछाड़ें खाने लगती है। अपने मन का गुबार वह चिल्लाकर, घर के बर्तन पटककर और बच्चों को पीटकर निकालती है। घर नरक बन जाता है। इसकी जिम्मेदारी, यह पगलाई, बौखलाई स्त्री है या वे परिस्थितियां, जो उसे अपने ही घर में मोल ली हुई दासी से ज्यादा जगह नहीं देतीं? नारी पुरुष की अर्धांगिनी है। अगर किसीके आधे अंग पर फालिज गिर जाए तो उसका क्या हाल होगा? क्या फिर भी वह पूर्ण कहलाएगा?

सामाजिक इतिहास पर दृष्टिपात करने पर स्त्री का अपना व्यक्तित्व धीरे-धीरे समाज में समाप्त होता दिखाई देता है। वह कुछ भूमिकाओं के चौखटे में जड़ दी जाती है—बेटी, बहन, मां, पत्नी, बहू। उससे उम्मीद की जाती है कि वह इन भूमिकाओं को आदर्श रूप में निबाहे। वह त्याग की प्रतिमूर्ति हो जाए और इसके बदले में समाज उसे देवी बनाकर ऊंचे-ऊंचे शब्दों के सिंहासन पर बिठा देगा। यह सती सावित्री है, सीता सी पतिव्रता है लेकिन इस सीता-सावित्री के पति को राम या सत्यवान बनने की किसी शर्त से बंधना नहीं पड़ता।

यह स्थिति ज्यादा देर तक बनी नहीं रह सकती थी। उन्नीसवीं-बीसवीं सदी सारी दुनिया के लिए नई करवटों का समय था। क्रान्तिकारी विचारों के ज्वाला-मुखी फूट रहे थे। अपने देश में भी समाज-सुधारकों ने साफ कहा कि जब तक भारतीय स्त्री की दशा नहीं सुधरती, इस देश का अंधकार दूर नहीं हो सकता। देश के स्वाधीनता-संग्राम में गांधीजी ने भारत की नारियों को घर से निकाल पुरुष के कंधे-से-कंधा मिलाकर चलने के लिए ललकारा। उनका शांतिपूर्ण असह-योग आन्दोलन स्त्री की मृदु और दृढ़ प्रकृति के इतना अनुकूल था कि वह 'भार-तीय अबला' के हाथ में विस्फोटक बम-सा शक्तिशाली सिद्ध हुआ। इन तमाम समाज सुधारकों के आन्दोलनों के बावजूद भारत की स्त्री को वोट देने का अधि-कार तो मिल गया, लेकिन अपने परिवार में उसे यह तय करने का अधिकार नहीं मिला कि आज कौन-सी दाल पकाई जाए।

इस स्थिति का कारण है हमारा वह लम्बा अतीत जिसने हमारे दिल-दिमाग को दमघोंट शिकंजे में जकड़ा हुआ है। हमने औरत को इंसान की तरह देखना बन्द कर दिया है। उसे घर की रानी की पदवी तो दे दी है, लेकिन पति की जूठी थाली में बचे खुचे कौर निगलने को छोड़ दिया है। चूल्हे से बांधकर अन्नपूर्णा तो कहा है, लेकिन यह देखने की तकलीफ गवारा नहीं की कि उसकी रसोई में धुआं निकलने की खिड़की भी है या कि वह धुआं उसके फेफड़ों पर जहरीले नाग की तरह बैठता जा रहा है। समाज यह नहीं समझता कि स्त्री को महत्त्व न देना

खुद अपनी उपेक्षा करना है।

एक बार गोपाल कृष्ण गोखले से प्रिंस ऑफ वेल्स ने कहा कि "आपके देश में कई महीने भ्रमण करने के बाद मैंने पाया कि जितने खुश भारतीय हैं उतने खुश लोग दुनिया में कम ही देखने में आते हैं। अगर यहां भारतीय शासन हो जाए तो क्या ये और ज्यादा खुश दिखाई देंगे?" गोखले ने उत्तर दिया, "मैं, ज्यादा खुशी की गारंटी नहीं देता लेकिन इनके चेहरों पर ज्यादा आत्मसम्मान दिखाई देगा।" इसपर प्रिंस ऑफ वेल्स बोले, "हो सकता है। लेकिन जब तक भारतीय पुरुष अपना व्यवहार अपनी महिलाओं के साथ नहीं बदलेंगे तब तक उनमें आत्मसम्मान आना मुश्किल लगता है।" गोखले इस लाछन को अस्वीकार न कर सके।

इस हालत के लिए सिर्फ पुरुष को ही जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। नारी खुद इतनी दब्बू है कि अपनी लगी-बधी भूमिका की लक्ष्मण-रेखा से बाहर कदम रखते डरती है। सदियों से हीन-भावना ने उसपर इतना जबर्दस्त पहरा बिठाया है कि वह अपनी संभावनाओं को खुद नहीं पहचानती। वह पुरुष से इतनी आतंकित है कि पुरुष को गलत कदम उठाते देखकर भी उसकी जबान खोलने की हिम्मत नहीं होती। वह बच्चे को नौ माह गर्भ में रखती है, उसकी एक आवाज पर जागती और सोती है। लेकिन बच्चे के भविष्य को तय करने का सवाल जब उठता है तब उससे सलाह लेने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। बेटी का ब्याह हो या बेटे की पढ़ाई या बेटे की नौकरी का निर्णय, ट्री मा को किसी लायक नहीं गिनता। मा भी अपने मत को मूर्खतापूर्ण मानती है और यह कहकर अलग हो जाती है कि "ये मर्दों की बातें हैं, इन्हें वे ही जानें।"

अगर कहीं कोई किस्मत की मारी औरत इन मामलों में बोल उठी तो उसकी शामत आ जाती है। अकसर औरत की सबसे बड़ी दुश्मन औरत खुद बन जाती है। पहले तो उसकी सास, ननदें, आस-पड़ोसन, उसे आड़े हाथों लेंगी। उनसे ही, उसका यह बुखार न उतरा और बात बाहर पहुंच गई तो पुरुष की मर्दानगी चोट खाए साप की तरह फुफकारने लगेगी। डाट-फटकार से भी औरत काबू में न आई और अपने बच्चे की भलाई के लिए झंडा उठाकर खड़ी हो गई तो डंडा तो कहीं गया नहीं। स्त्री पुरुष की सम्पत्ति है। वह उसे जैसे चाहे काबू में रखे और पुरुष यह अच्छी तरह जानता है कि मार के आगे भूत भागते हैं।

अपने समाज में अनेक तबके हैं। अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित, विकसित-अविकसित, और शहरी किन्तु औरत की पशुवत् दशा, कमोबेश अधिकांश परिवारों में एक-सी पाई जाती है। भारत ही नहीं, विदेशों में भी, जहां आधुनिकता की चमक-दमक आंखों को चौंधिया देती है, स्त्री को समाज में द्वितीय स्थान प्राप्त है। अमेरिकी महिलाएं अरसे तक स्वयं को अन्य स्त्रियों से ज्यादा सुविधा-प्राप्त समझती रहीं। यहां तक कि उनपर अपने पुरुषों को कमजोर बनाने का

आरोप लगने लगा। अचानक उन्होंने पाया कि वे एक ऐसे सुनहरे जाल मे फस गई हैं जहा साज-सिंगार और नये-नये उपकरणो की दौड म वे पागलो की तरह वेतहाशा दौड रही है। लेकिन उन्ह वास्तविक सामाजिक और आर्थिक बराबरी नहीं मिली है। परिणामस्वरूप अमेरिका की कुछ स्त्रियो ने पुरुषो के विरुद्ध जग छेड दी जिसमे उनका आक्रमण स्त्रीत्व के विशेष गुणो को छोडने से शुरू हुआ। फ्रास की प्रसिद्ध लेखिका सिमोद द ब्यूवो इस प्रकार के युद्ध को मूर्खता मात्र समझती हैं और कहती हैं कि जब तक ससार मे उत्पादन-क्राति नही आएगी, स्त्री की दशा सुधरने वाली नहीं। रूस तक मे, जहा एक शताब्दी पहले पत्नी की नाफर्मावर्दारी पर पति हटर उठाने से नही हिचकता था, आज उसे जो आजादी और खुशहाली मिली है, वह क्या जनक्रान्ति के बिना सभव थी ? समाजशास्त्री सूसन मार्टेंग के अनुसार, "मुक्ति ही शक्ति का दूसरा नाम है।" जब तक स्त्री अपने अधिकारो को नही पहचानेगी, उसको पानेकी कोशिश नही करेगी, जापानी स्त्री की तरह वोझ उठाए, पति से दो कदम पीछे हटकर चलती रहेगी।

जब स्त्री स्वय कमाती है तो वह सहज रूप से अधिक स्वाधीन महसूस करती है। घर के बाहर अन्य लोगो के साथ मिलकर कुछ करने से उसे एक पूर्णता का अनुभव होता है जो सिर्फ घर का काम करके उसे नही मिलता। यह सुख का भाव उसकी मानसिक सतुष्टि के द्वारा परिवार के सब सदस्यो को सुख प्रदान कर सकता है। इसके अतिरिक्त परिवार के भरण-पोषण मे उसकी आर्थिक सहायता उसे आदर दिलवाती है। हिमाचलप्रदेश के कुछ पहाडी क्षेत्रों म दुलहन पाने के लिए वर दहेज देता है। यो भी छोटे गावो म और तथाकथित निम्नवर्ग म स्त्री काफी खुदमुख्तार है। गावो मे स्त्री और पुरुष के कामो म विभेद भी शहरी परिवारो न कम है। निम्नवर्ग म पुरुष की मारपीट या ज्यादतियो पर औरत अपने पति से नाता तोड सकती है और किसी दूसरे के घर बैठ सकती है, उसका समाज उसे यह अधिकार देता है, क्योंकि वह अपनी और अपने बच्चो की रोटी के लिए पति की मोहताज नही है।

दूसरा वर्ग उन स्त्रियो का है जो सही अर्थों मे शिक्षित है। वे अपनी कुव्वत को समझती हैं, अपने व्यक्तित्व को कुचले जाने से बचाती है और परिवार मे अपना मूल्य अच्छी तरह सिद्ध कर पाती हैं। उनके पति उनकी सलाह की इज्जत करते हैं और बच्चे अपने विकास के लिए उनपर निर्भर होते हैं। अनहोनी और कठिन परिस्थितियो मे ये स्त्रिया कानून की मदद लेकर अपना हक पाने और जिन्दगी को खुदी की मोहलत देने की ताकत रखती हैं। कुछ पुरातनपंथी अक्सर यह कहते सुने जाते हैं कि "ये नई आजादी और नई रोशनी हमे ले डूबेगी। अब तो औरतें वात-बात पर मर्दों को तलाक देंगी।" वे भूल जाते है कि क्या अपने-आप अपना घोसला कभी नही उजाडती। अगर आकडो पर भी जाएं तो हम पाएंगे

कि तलाक-कानून के आने पर शुरू में अधिक विच्छेद हुए। लेकिन कुछ ही सालों के भीतर उनकी संख्या घट गई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शिक्षा, व्यक्ति को निर्भय और आत्मविश्वासी बनाती है। उसे हीनता की भावना से बचाती है और अंधविश्वासों को तोड़ती है। फिर भी दुख तो यह है कि अभी तक कई पिछड़े हुए क्षेत्रों में लड़कियों के लिए शिक्षा का कोई प्रबन्ध तक नहीं है। स्त्रियों की साक्षरता की गति पुरुषों के मुकाबले बहुत धीमी है। १६०१ में डेढ़ करोड़ शिक्षित पुरुषों के मुकाबले १० लाख शिक्षित स्त्रियां थीं। ७० साल बाद ११ करोड़ पुरुषों ने शिक्षा पाई लेकिन स्त्रियों में कुल ५ करोड़ ही शिक्षित हो सकीं।

वास्तव में स्त्री और पुरुष दोनों ही वर्तमान स्थिति के लिए जिम्मेदार हैं और उन दोनों को मिलकर स्त्री को समाज में उसका उचित स्थान दिलवाना पड़ेगा वर्ना कानून बनते रहेंगे, सुधरते रहेंगे, उनमें दहेज, कम आयु में विवाह आदि का निषेध होना रहेगा। कानून की पोथियों में स्त्री को पुरुष के अत्याचार से बचने के लिए तलाक और पिता की सम्पत्ति में बराबरी अधिकार मिलते रहेंगे, लेकिन औरत अपने गढ़े में पड़ी-पड़ी सोचती रहेगी कि पति से पूछे बिना दाल चढ़ाऊं या नहीं ?

समाज : साहित्य : दायित्व
महिला सृजनकार

आधुनिक समाज मे लेखिकाओ का दायित्व—यह प्रश्न उठते ही, दो प्रति-प्रश्न मन म जाग उठते हैं। एक तो यह कि क्या महिला साहित्यकार का दायित्व, समाज के प्रति, पुरुष साहित्यकार से कुछ भिन्न होता है ? और दूसरा यह कि क्या साहित्यकार हमेशा अपने समाज से प्रतिवद्ध होकर लिखता है ?

दूसरे सवाल को पहले लिया जाए क्योकि वह एक शाश्वत सवाल है। जब से साहित्य का सृजन आरभ हुआ है, बराबर यह बहस जारी रही है कि साहित्य का प्रयोजन क्या है ? क्या साहित्य मात्र आत्माभिव्यक्ति है अथवा वह समाज का प्रतिबिम्बन है ? यह भी कि क्या साहित्य दर्पण से कुछ और भी आगे बढकर काम नही करता ? क्या सही रास्ता दिखाना भी उसका दायित्व नही है ? भरत मुनि म लेकर आज तक यह विवाद चला है। उधर पश्चिम मे भी अरस्तु और प्लेटो से लेकर एक ओर आज का मार्क्सवादी, और दूसरी ओर अस्तित्ववादी आलोचक इस रेशमी गुत्थी को सुलझाने मे व्यस्त हैं। वास्तव मे यह बहस किसी हद तक एक निरर्थक बहस है। व्यक्ति एक इकाई होते हुए भी निरन्तर समाज के समुद्र के बीच स्थित एक टापू की तरह जीता है। उसका अस्तित्व, रूप-रग, बनावट इस बात पर निर्भर करती है कि समुद्र की लहरें उसके साथ कैसा बर्ताव कर रही है। कभी ऊची तेज तरगा से उसके किनारे कट-कटकर बहने लगते है और कभी वही लहर उस भिगो-भिगोकर उसपर मूग की चट्टानें बना जाती है। इसान अपन साहित्यकार को सुरक्षित करके चारदीवारी म कितना भी क्यो न घेर ल उसका टकराव समाज से हर स्तर पर होता रहता है। उसका जन्म जिस परिवार म हुआ, जिस युग और जिस देश म हुआ—वह सब उसकी विचारधारा और अनुभूतियो को ढालने की भट्ठिया सिद्ध होती हैं। यह जरूर है कि कोई अत्याचार और

अनाचार से समझौता कर लेता है तो कोई उससे लड़कर प्राण देने की ताकत रखता है। लेकिन है वह अत्याचार के लिए प्रतिक्रिया ही और यह अत्याचार समाज में स्थित एक बाहरी स्थिति है। यही कारण है कि तुलसीदास का स्वांतः सुखाय रचित रामचरित मानस आज भी लाखों के लिए समाज और नीतिशास्त्र का चरम बिंदु है और मीरा की एकांत प्रेम-साधना इस अविश्वास और अश्रद्धा के युग में मन को भक्त करने की क्षमता रखती है। कोई भी साहित्यकार यह दावा नहीं कर सकता कि मैं समाज से कोई वास्ता नहीं रखता—मैं उससे पूरी तरह निरपेक्ष हूं।

अब प्रश्न उठता है कि क्या स्त्री और पुरुष की प्रतिक्रियाएं इतनी अलग होती हैं कि महिला साहित्यकारों से कुछ और अपेक्षा रहती है तथा पुरुष साहित्यकारों से कुछ और? यों उनकी मूलभूत संवेदना में कोई अन्तर नहीं होता लेकिन असलियत यह है कि भारतीय समाज में स्त्री और पुरुष के क्षेत्रों की विभिन्नता के कारण उनके साहित्यिक विषयों की सीमा किसी हद तक बंटी है। स्त्रियां अपने परिवार और घर से ज्यादा बंधी हुई हैं। उनके साहित्य में पारिवारिक सम्बन्धों के बदलाव का जिक्र बार बार उभरता है। पुरुष और स्त्री के सम्बन्धों को भी वे अधिक आत्मकेन्द्रित दृष्टि से देखती हैं, क्योंकि अधिकांश की दुनिया पति के चारों ओर घूमती है। पति को धुरी बनाकर उसके मध्य से वे दुनिया को छूती हैं। अधिकतर जीवन की कटुता से उनका सीधा और वैसा साक्षात्कार नहीं होता जैसा उनके पति, भाई या बेटे का होता है।

यह सही है कि लेखिका वर्ग स्वाभाविक रूप से शिक्षित भारतीयताओं का वर्ग है। उनमें अधिकांश महानगरों या बड़े शहरों में रहने वाली महिलाएं हैं। उन्हें भी बसों की लम्बी कतारों में खड़ा होना पड़ता है। धक्कमपेल करके अपने शरीर को सहेजते बचाते, अपनी मंजिलों पर पहुंचना पड़ता है। कॉलेज में दाखिला लेना हो या नौकरी की तलाश—उनके सामने भी उसी तरह प्रतियोगिता से भरा वातावरण है, स्पर्द्धा है और असफलताएं हैं। देखना यह है कि महिला साहित्यकार का साहित्य इन वास्तविकताओं को अपने लेखन में कितनी सच्चाई, ईमानदारी और तीव्रता से उतार पाता है।

जहां तक ईमानदारी और सच्चाई का सवाल है, इसमें दो राय न होंगी कि महिलाएं जिन्दगी में गलत कामों से समझौता अधिकतर नहीं करतीं। यह मानी हुई बात है कि महिला वकील अधिक ईमानदार होती है। उद्योग और व्यवसाय के क्षेत्र में भी वे काला धंधा नहीं करतीं। महिला डॉक्टर ज्यादा मेहनती होती हैं और लड़कियों के कॉलेजों में भी दूसरे कॉलेजों की अपेक्षा अधिक सुचारु रूप से पढ़ाई करवाई जाती है। अपने-आपको बहुत चतुर समझने वाले कुछ व्यक्ति इनका कारण यह बताते हैं कि महिलाएं स्वभाव से भीरु होती हैं। उनमें एडवेंचर की कमी होती है और आगे बढ़कर लाभ उठाने की हिम्मत नहीं होती। इसलिए

वे सधी-सधाई लीक पर चलती रहती हैं। बात सीधी-सी इतनी ही है कि उनकी मानवीय संवेदनाएं उन्हें स्वाभाविक नीति की सीमाओं से बाहर नहीं निकलने देती। क्या इसे स्वभाव की कायरता कहा जाएगा? वास्तव में इसका छूट जाना ही आज का सबसे बड़ा संकट है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मार्गरेट मीड को भी भय हो जाता है:

"There is no guarantee that women through inherent qualities rather than experience will continue to be more conserting and cherishing than men"

(इसकी भी कोई गारंटी नहीं है कि स्त्रियां, अनुभव की अपेक्षा आंतरिक गुणों के बल पर, पुरुषों के मुकाबले अधिक संरक्षण और संपोषण देने वाली बनी ही रहेंगी।)

भारत में यह भय भविष्य का हो सकता है, वर्तमान का नहीं। अभी तो स्त्रियों के साहित्य में हमें यह ईमानदारी दिखाई देती है। उनकी कहानियों में शिल्प और शैली के नयेपन और लदे हुए आधुनिक विन्यास की जगह अनुभूति और अनुभव का खरापन है। इसीलिए वे अधिक विश्वसनीय हैं और जो विश्वसनीय होता है, वह प्रभाव भी छोड़कर रहता है। आधुनिक कवयित्रियों का काव्य में विदेशी-युद्धों और रंग-भेद का विश्वव्यापी चित्र भले ही न हो लेकिन आसपास की जिन्दगी का सही आईना और उसके बीच में स्थित अपने व्यक्तित्व का अहसास बोलता है। एक नैसर्गिक सहनशक्ति के कारण उनके साहित्य में उस प्रकार की टूटन और निराशा का स्वर भी अपेक्षाकृत कम सुनाई पड़ता है जो कभी-कभी सृजनकार को निष्क्रिय बना जाता है। इसके अतिरिक्त महिला साहित्यकार अक्सर दलबंदियों में नहीं पड़ती। न वे झंडे गाड़ने की कोशिश करती हैं और न ही साहित्यिक मठाधीश बनने के लिए लालायित होती है। इस तरह उनका साहित्य गुटों की दल-दल से बचा रहता है और सहज साहित्य का निर्माण करना उनके लिए अधिक संभव होता है।

हम जो कुछ भी लिखते हैं, रचते हैं—वह कहीं-न-कहीं हमारे वातावरण और परिवेश के घात-प्रतिघात का परिणाम होता है। इस तरह साहित्य की सामाजिकता कभी समाप्त होती ही नहीं। साहित्यकार किसी भी वर्ग या लिंग का हो, उसके साहित्य की सामाजिक उपादेयता रहती ही रहती है। यह जरूर है कि किसी सामाजिक बुराई को दूर करने के लिए, किसी सामाजिक दायित्व को निबाहने के लिए वह सचेतन रूप से साहित्य की रचना न करे। प्रच्छन्न रूप में जो वक्तव्य सामाजिक बुराइयों पर, नये नैतिक और व्यक्तिगत मूल्यों की स्थापना की आवश्यकता पर, उसके साहित्य में रेखांकित होंगे, वे अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण हैं। साहित्य की सबसे बड़ी शक्ति यह है कि उसकी अभिव्यक्ति हमारी अपनी

अभिव्यक्ति हो जाती है। उसके पात्रों के साथ हम कष्ट झेलते हैं, सुख झेलते हैं। इसीलिए उसपर हो रहा अन्याय हमें खुद पर होता अन्याय लगता है। दूसरे की मजबूरी जब अपनी मजबूरी बन जाती है तभी असल समझदारी और सहानुभूति का आरम्भ होता है।

कौन-सा समाज समस्याओं से पटा नहीं होता? विकासशील देश की समस्याएं और भी दशमुखी और दैत्याकार होती हैं। जब परेशानियां अधिक बढ़ जाती हैं तो इंसान के पास दो ही रास्ते बच रहते हैं—या तो वह कमर कसकर आग बुझाने के लिए लपटों में कूद पड़े या अपने आपको सब तरफ से समेटकर बिल्ली के सामने कबूतर की तरह आंखें मूंद ले और पलायनवादी हो जाए। जाहिर है कि पहला रास्ता जीवट वालों का और दूसरा हरैलों का है। महिला साहित्यकार इन दोनों स्थितियों की अति से हटकर चलती हैं। उन्होंने ऐसे साहित्य की रचना की है जिसमें आज के माहौल का सही खाका खिंचकर आया है। आर्थिक कारणों से पत्नी को नौकरी करने पर मजबूर होना पड़े या अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए स्त्री, मात्र पत्नी न रहकर अपने अस्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए घर से बाहर काम करने निकले—दोनों ही स्थितियां लेखिकाओं ने बार-बार उठाई हैं। इसी तरह पुरानी और नई पीढ़ी जिस परिवार में एकसाथ बसी है, उसमें बीच की कड़ी के रूप में या अपनी सास और अपने बेटी-बेटे के बीच किस तरह एक पुल का काम करती है, यह भी पढ़ने को मिलता है। लिजलिजे और भावुकता-भरे रोमांस के ऊपर उठकर पुरुष की सहचारिणी बनने की चाह लेखिकाओं की कलम में अंकित होती है। गहने, कपड़े, विदेशी सेंट से महकती पति के काले धंधे की कमाई पर इतराने वाली तथाकथित उच्चवर्ग की औरतों के जीवन का खोखलापन भी इनके साहित्य का विषय है। घर-घर काम करके किसी तरह परिवार का पेट पालनेवालियों का अशिक्षा और गरीबी से उपजा जीवन, उसका दर्द भी, इनकी कलम से छूआ नहीं है। स्त्री का शरीर किस तरह उसका सबसे बड़ा दुश्मन है—क्योंकि गरीब औरत पति, मालिक, पुलिस—सामाजिक अधिकार के अनेक दावेदारों के शिकंजे में बार-बार फंसती है—इसका क्षोभ और यातना लेखिकाओं ने पहचाने, और अंकित किए हैं। नई पीढ़ी के साथ सहानुभूति रखने वाली सहिष्णु दृष्टि भी हमें इनमें मिलती है। दिखाई पड़ता है कि जहां पिता अपने बेटे को बड़ा अफसर बनाकर अपनी अपूर्ण महत्त्वाकांक्षा पूरी करना चाहता है, वहां उसकी मां की यह इच्छा रहती है कि मेरा बेटा कुछ ऐसा करके दिखाए जिसमें बेटे के अस्तित्व का प्रतिफलन हो। वह युवा संतान के आदर्शवाद पर अपने पति की सी निर्लिप्त भावना नहीं रखती।

इन सारे विषयों को उठाना अपने-आपमें सामाजिक दायित्व को निबाहना है। जिस सघर्ष के बीच हम जी रहे हैं, उस चकमक पत्थर की टकराहट से

वे सधी सधाई लीक पर चलती रहती है। बात सीधी-सी इतनी ही है कि उनकी मानवीय सवेदनाए उन्हे स्वाभाविक नीति की सीमाओ से बाहर नही निकलने देती। क्या इसे स्वभाव की कायरता कहा जाएगा? वास्तव मे इसका छूट जाना ही आज का सबसे बडा सकट है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मार्गरेट मीड को भी भय हो जाता है :

"There is no guarantee that women through inherent qualities rather than experience will continue to be more conserting and cherishing than men"

(इसकी भी कोई गारटी नही है कि स्त्रिया, अनुभव की अपेक्षा आतरिक गुणो के बल पर, पुरुषो के मुकाबले अधिक सरक्षण और सपोषण देने वाली बनी ही रहेगी।)

भारत मे यह भय भविष्य का हो सकता है, वर्तमान का नही। अभी तो स्त्रिया के साहित्य मे हम यह ईमानदारी दिखाई देती है। उनकी कहानियो म शिल्प और शैली के नयेपन और लदे हुए आधुनिक विन्यास की जगह अनुभूति और अनुभव का खरापन है। इसीलिए वे अधिक विश्वसनीय है और जो विश्वसनीय होना है, वह प्रभाव भी छोडकर रहता है। आधुनिक कवयित्रिया का काव्य मे विदेशी-युद्धो और रग भेद का विश्वव्यापी चित्र भले ही न हो लेकिन आसपास की जिन्दगी का सही आईना और उसके बीच म स्थित अपने व्यक्तित्व का अहसास बोलता है। एक नैसर्गिक सहनशक्ति के कारण उनके साहित्य म उस प्रकार की टूटन और निराशा का स्वर भी अपेक्षाकृत कम सुनाई पडता है जो कभी-कभी सृजनकार को निष्क्रिय बना जाता है। इसके अतिरिक्त महिला साहित्यकार अकसर दलबदिया मे नही पडती। न वे झडे गाडने की कोशिश करती हैं और न ही साहित्यिक मठाधीश बनने के लिए लालायित होती है। इस तरह उनका साहित्य गुटो की दलदल से बचा रहता है और सहज साहित्य का निर्माण करना उनके लिए अधिक सभव होता है।

हम जो कुछ भी लिखत हैं, रचते है—वह कही-न-कही हमारे वातावरण और परिवेश के घात-प्रतिघात का परिणाम होता है। इस तरह साहित्य की सामाजिकता कभी समाप्त होनी ही नही। साहित्यकार किसी भी वर्ग या लिंग का हो, उसके साहित्य की सामाजिक उपादेयता रहती ही रहती है। यह जरूर है कि किसी सामाजिक बुराई को दूर करन क लिए किसी सामाजिक दायित्व को निबाहने के लिए वह सचेतन रूप से साहित्य की रचना न करे। प्रच्छन्न रूप स जो वक्तव्य सामाजिक बुराइया पर, नय नैतिक और व्यक्तिगत मूल्यो की स्थापना की आवश्यकता पर, उसके साहित्य म रेखाकित होगे वे अपने-आपमे महत्त्वपूर्ण हैं। साहित्य की सबसे बडी शक्ति यह है कि उसकी अभिव्यक्ति हमारी अपनी

अभिव्यक्ति हो जाती है। उसके पात्रों के साथ हम कष्ट झेलते हैं, सुख झेलते हैं। इसीलिए उसपर हो रहा अन्याय हमे खुद पर होता अन्याय लगता है। दूसरे की मजबूरी जब अपनी मजबूरी बन जाती है तभी असल समझदारी और सहानुभूति का आरभ होता है।

कौन सा समाज समस्याओ से पटा नही होता? विकासशील देश की समस्याए और भी दसमुखी और दैत्याकार होती हैं। जब परेशानिया अधिक बढ जाती है तो इसान के पास दो ही रास्ते बच रहते हैं—या तो वह कमर कसकर आग बुझाने के लिए लपटो मे कूद पडे या अपने-आपको सब तरफ से समेटकर बिल्ली के सामने कबूतर की तरह आखें मूद ले और पलायनवादी हो जाए। जाहिर है कि पहला रास्ता जीवट वालो का और दूसरा हर्रेलो का है। महिला साहित्यकार इन दोनो स्थितियो की अति से हटकर चलती हैं। उन्होने ऐसे साहित्य की रचना की है जिसमे आज के माहौल का सही खाका खिचकर आया है। आर्थिक कारणो से पत्नी को नौकरी करने पर मजबूर होना पडे या अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए स्त्री, मात्र पत्नी न रहकर अपने अस्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए घर से बाहर काम करने निकले—दोनो ही स्थितिया लेखिकाओ ने बार-बार उठाई हैं। इसी तरह पुरानी और नई पीढी जिस परिवार मे एकसाथ बसी हुई है, उसमे बीच की कडी के रूप मे मा अपनी सास और अपने बेटी-बेटे के बीच किस तरह एक पुल का काम करती है, यह भी पढने को मिलता है। लिजलिजे और भावुकता-भरे रोमास के ऊपर उठकर पुरुष की सहचारिणी बनने की चाह लेखिकाओं की कलम से अकित होती है। गहने, कपडे, विदेशी सेंट से महकती पति के काले धधे की कमाई पर इतराने वाली तथाकथित उच्चवर्ग की औरतो के जीवन का खोखलापन भी इनके साहित्य का विषय है। घर-घर काम करके किसी तरह परिवार का पेट पालनेवालियो का अशिक्षा और गरीबी से उपजा जीवन, उसका दर्द भी, इनकी कलम से छुपा नही है। स्त्री का शरीर किस तरह उसका सबसे बडा दुश्मन है—क्योकि गरीब औरत पति, मालिक, पुलिस—सामाजिक अधिकार के अनेक दावेदारो के शिकजे मे बार-बार फसती है—इसका क्रोध और यातना लेखिकाओ ने पहचाने, और अकित किए हैं। नई पीढी के साथ सहानुभूति रखने वाली सहिष्णु दृष्टि भी हमे इनमे मिलती है। दिखाई पडता है कि जहा पिता अपने बेटे को बडा अफसर बनाकर अपनी अपूर्ण महत्त्वाकाक्षा पूरी करना चाहता है, वहा उसकी मा की यह इच्छा रहती है कि मेरा बेटा कुछ ऐसा करके दिखाए जिससे बेटे के अस्तित्व का प्रतिफलन हो। वह युवा सतान के आदर्शवाद पर अपने पति की सी सिनिकल भावना नही रखती।

इन सारे विषयो को उठाना अपने-आपमे सामाजिक दायित्व को निबाहना है। जिस सघर्षण के बीच हम जी रहे है, उस चकमक पत्थर की टकराहट ग

निरतर आग की चिगारिया निकलती रहती है। देखने मे आता है कि लेखिकाएं इस चिगारी को परदाह व आत्मदाह का अस्त्र न बनाकर एक मोमबत्ती की लौ मे सहेज लेती है। वे अधेरे कोने को उजालने की कोशिश मे है। यदि हर घर मे रोशनी हो जाए तो दाहक मशाल की जरूरत ही क्य" ?

सितारों से आगे

सावित्री से सती (प्रथा) और अब पुनः स्वयवरा पर भारतीय नारी का मुक्ति-इतिहास-चक्र पहुचकर रुकता-सा जान पडता है। सदियो की इस गाथा ने इतने रग अपने साथ लपेट लिए हैं कि अब उन्हे हटाने को एक नया मुक्ति-चक्र चलना अपेक्षित हो गया है। हजारो साल के उतार-चढाव ने एक अजब दृश्य सामने ला उपस्थित किया है जहा पुरुष और स्त्री के पारस्परिक दृष्टिकोण इतने वैविध्यमय और अंतर्विरोधी होकर सामने आते हैं कि चित्र पूर्णरूपेण अतियथार्थवादी अमूर्तता धारण कर लेता है। सर्वेन्तीज ने कहा था कि स्त्री की सलाह निरर्थक होती है लेकिन जो उसे नही मानता, वह मूर्ख है। कुछ ऐसी ही अटपटी बात आज भारतीय पुरुष करता दिखाई देता है—खास तौर से शहरी पुरुष। नारी के लाभ से वह भली भाति परिचित है। सिनेमा टिकट की लबी पक्ति, आवेदनपत्र जमा कराने की भीड, घर-खर्च के लिए अतिरिक्त कमाई, बात मनवाई और अपनी नई नजर से प्रमाणस्वरूप बी० ए०, एम० ए० डिग्री प्राप्त पत्नी को वह धूप के चश्मे की तरह धारण करता है किन्तु घर की चारदीवारी के भीतर हर बाहरी मामले पर अपने मत को ऊचा, उसको नीचा ठहराता, उसे मातृत्व और पाकविद्या की लक्ष्मण-रेखा में सुरक्षित रखना चाहता है। दोष पुरुष का भी नही। रूढिग्रस्त भारत में राजा राममोहन राय के समाज-सुधारक आदोलन से लेकर श्रीमती गाधी के प्रधानमंत्रित्व तक की दौड इतनी आकस्मिकता और तेजी से हुई है कि सदियो से मद-गति-अभ्यस्त भारतीय मन अभी इस आधी में हिल रहा है। बीसवी सदी एक भूचाल की तरह उखाडती-पछाडती आई है और उसने पूर्व तथा पश्चिम के मानदडों को गड्ड-मड्ड करके रख दिया है। उसीका एक परिणाम है यह स्थिति, जब भारतीय नारी को सब अधिकार प्राप्त है, सिर्फ अपना अधिकार मागने का अधिकार प्राप्त नही।

निराला ने लिखा है कि क्रांति की आंधी विशालकाय पेडो को जड से उखाड देती है लेकिन कोमल घास फूटकर लहराने लगती है। यही कारण है कि कीचड और दलदल के बावजूद भारतीय नारी का कार्यक्षेत्र आज हरी घास की तरह चारो दिशाओ मे फैल रहा है। यहा गणना केवल उनकी नही, जो असाधारण है। अतरिक्ष-यात्री या विश्वसुन्दरी अपवादो की श्रेणी मे रखी जा सकती है, किन्तु शिक्षा, उद्योग, चिकित्सा, राजनीति, कृषि, विज्ञान, साहित्य और कला मे चमकने वाली महिलाए उसी कर्मठता, मनोयोग और स्पर्द्धा से आगे बढी हैं जिसमे कोई भी अपने क्षेत्र का गुणी पुरुष बढ गया है, बल्कि कहा जाए कि महिलाओ को ज्यादा अडचनो का सामना करना पडा है तो गलत न होगा। उसे मान्यता पाने के लिए पुरुष से ज्यादा अच्छा बनकर दिखाना पडता है।

अर्से तक विश्व-समाज मे स्त्री को पुरुष से हीन माना गया है। उसे नूतन उद्-भावना और मौलिक विचार के अयोग्य समझा जाता था। मातृत्व धारण करने का नैसर्गिक शारीरिक धर्म, पुरुष की, नारी के खिलाफ, सबसे बडी दलील थी। उसीके बल पर उसकी स्वतत्रता समाप्त करके उसे मूलत परिवार, पति और बच्चो के निमित्त मान लिया गया था। भारतीय सदर्भ मे महात्मा गाधी और विदेशी सदर्भ मे लेनिन ने इस भ्रांति को दूर करने म सबसे बडा कार्य किया। सभवत' यही कारण है कि भारत और रूस मे स्त्री को जो सवैधानिक और कानूनी अधिकार स्वतः मिले, उनके लिए ब्रिटेन और अमेरिका मे स्त्री को जेहाद बोलना पड रहा है। रूस मे स्त्रियो को पुरुषो के समानाधिकार प्राप्त है और वहा अनेक महिलाओ ने पार्टी और सरकार म उच्च पदो को प्राप्त किया है। तुर्कमेनिया जैसे मुस्लिम प्रधान प्रदेश मे भी स्त्रियो ने जो स्वाधीनता और बराबरी पाई है, वह वहा की नारी मुक्ति का मानदड मानी जा सकती है। इसके विपरीत ब्रिटेन म यद्यपि कुल कामगरो मे एक-तिहाई स्त्रिया हैं लेकिन उन्हे उसी काम के लिए पुरुषो से ३५ प्रतिशत कम वेतन मिलता है। फिर भी, लगभग सारी दुनिया मे पुरुष-श्रमिका को प्राथमिकता दी जाती है। इसका एक कारण महिला-मजदूरो को मिलने वाली कानूनी अतिरिक्त सुविधाए भी हो सकता है। मातृत्वकाल की छुट्टी, रात मे काम करने का निषेध, भूमिगत काम करने की मनाही आदि इनमे से कुछ है। इस तरह कभी कभी मालिक को मर्द मजदूर औरतो के मुकाबले सस्ता पड जाता है। खोज-रिपोर्टों स हटकर सतह को जरा-सा भी उघाडें तो एक और सच्चाई सामने आती है। अतिरिक्त सुविधाओ के य आयोजन अक्सर किताबी ही रहते है।

भारत मे बेरोजगारी व गरीबी का यह हाल है कि मालिक की सब शर्तों को मानती हुई औरत मजदूरी को कसकर पकडे रहती है। ऐसे मे अपने अधिकारो की माग सबसे पहले नौकरी खोने मे प्रतिफलित होती है, जो उसके लिए असाध्य है। फिर भी कुछ ऐसे काम हैं, जिनमे स्त्रिया ही अधिक दक्ष पाई गई हैं और उन्हींको

प्रमुखत ऐसी नौकरी दी जाती है—जैसे शीशियां भरना, लेबल चिपकाना, डिब्बे बद करना, बीडी लपेटना, चाय बागान मे पत्ती चुनना आदि। कमी सबसे बडी यह है कि स्त्रियो को काम का प्रशिक्षण पाने की कोई सुविधा उपलब्ध नही है और वे अप्रशिक्षित मजदूरो की श्रेणी मे ही निरतर बनी हुई हैं। खेती मे स्त्रिया हमेशा से पुरुषो की मदद करती आई हैं लेकिन अब तकनीकी प्रगति के साथ खेती का नक्शा बदल रहा है और गाव के लोगो को आज यह सुझाने की आवश्यकता है कि ग्रामीण लडकी यदि कृषि की वैज्ञानिक शिक्षा पा ले तो कमाई को चार चाद लग सकते है।

शहरो की ओर दृष्टि डालें तो वहा का माहौल बहुत बदला हुआ नजर आता है। लोकल ट्रेनो और बसो से कार्यशील महिलाओ की लहर पर लहर सुबह निकलती है और दफ्तरो मे समा जाती है। हर ऑफिस मे कदम रखते ही स्वागतिका (रिसेप्शनिस्ट)मिलती है। हर विभाग मे टाइपराइटरो पर सुकुमार हाथ मुस्तैदी मे ऑफिस-सगीत बजाते सुन पडते हैं। फोन उठाते ही कर्णमधुर स्त्री-स्वर महायता को तत्पर जान पडता है। यह आम बात है। लेकिन आम महिला और आगे बढ आई है। व्यक्तिगत सबधो पर आश्रित बहुतेरे व्यावसायिक कार्य महिला अपने सौम्य तथा समझदार व शात व्यक्तित्व से बहुत अच्छी तरह सुलझा पाती है। इस बात को समझकर जन-सपर्क (पब्लिक रिलेशन्स) का काम महिलाओ को सौपा जाने लगा है। हर बडे उद्योग मे कुछ महिला लेबर ऑफिसर जरूर होती है ताकि श्रमिको और मालिको के बीच के कुछ विशिष्ट तनावों को वे दूर कर सकें। औद्योगिक सस्थानो मे श्रमिको के पारिवारिक कल्याण कार्य मे भी उनका सहयोग अमूल्य साबित होता है। कल्याण-अधिकारी (वेलफेयर ऑफिसर)पद के लिए भी स्त्रियो को प्राथमिकता दी जाती है।

कुछ और कार्यों मे भी महिलाओ की उपस्थिति मनोवैज्ञानिक कारणो से होने लगी है। वे है बिक्री के छोटे-बडे माध्यम। विदेशो मे अपने माल का बाजार ढूढने मे लेकर काउटर पर खडे होकर सामान बेचना और घर-घर जाकर अपनी कपनी के माल का प्रचार-प्रसार व बिक्री महिलाए कर रही है। हर बाजार मे खरीदार पुरुष है, वह महिला विक्रेता की बात को ना कहते हिचकिचाता है। वह भद्रता के नाते ही सही, महिला-विक्रेता की बात कम-से-कम सुन लेता है।

आज भारत मे जितनी स्त्रिया जितने ऊचे पदो पर, जितने अधिक क्षेत्रो मे हैं, विश्व के किसी दूसरे देश मे नही है। विकसित देशो मे जो स्थान मात्र पुरुष के लिए सुरक्षित समझे जाते हैं, अपने विकासशील देश मे महिलाओ ने पाए है। उदाहरणार्थ देश की दूसरी सबसे बडी शिपिंग कपनी की चेयरमैन एक स्त्री का होना, भारत ही मे सभव था। श्रीमती सुमति मोरारजी लगातार तीन साल तक इडियन नेशनल स्टीमशिप ओनर्स एसोसिएशन की अध्यक्षा चुनी गईं। रूस, अमेरिका

और ब्रिटन मे भारतीय राजदूत होने के अतिरिक्त श्रीमती विजयलक्ष्मी पडित सयुक्त-राष्ट्र-सघ की सभापति रही। विश्व के समस्त पार्श्व-गायको मे लता-मगेशकर सबसे अधिक महगी हैं। इतनी व्यस्त कि अक्सर फोन पर धुन पकडकर गाना रिकॉर्ड करा लेती हैं लेकिन साथ ही अपनी गान-श्रेष्ठता के लिए प्रिय ही नही, समादृता भी है। श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय ने भारतीय सौंदर्य-दृष्टि जगाकर भारतीय शिल्प को देश-विदेश मे फिर से गौरव दिलाया है। महारानी गायत्रीदेवी ससार की दस अद्वितीय सुन्दरियो मे ही नही गिनी जाती थीं, वे राज-नीति के क्षेत्र मे भी जागरूक रही। और खैर, श्रीमती इदिरा गाधी की प्रखर राजनीतिक सूझबूझ और व्यक्तिगत करिश्मे का लोहा तो पूरा ससार मानता है।

चिकित्सा के क्षेत्र मे महिलाए सर्वप्रथम नर्सिंग का काम करने के लिए प्रविष्ट हुई थी। आज वे पूर्णरूपेण चिकित्सक बनकर समाज की बहुमूल्य सेवा कर रही हैं। शल्य चिकित्सा से लेकर मनोचिकित्सा तक हर विभाग मे उन्होने महारत हासिल की है। देश मे महिलाओ के लिए अनेक मेडिकल कॉलेज इसका प्रमाण है। अपग और विकलाग बच्चो के अस्पतालो मे महिला डॉक्टरो की बहुतायत रहती है। न जाने कितनी सहृदय और कुशल स्त्री चिकित्सको ने असीम धैर्य और आस्था से ऐसे बच्चो को नया, सार्थक जीवन प्रदान किया है।

यही हाल अदालतो का है। बीस-पच्चीस साल पहले महिला बैरिस्टर उग-लियो पर गिनी जा सकती थी। १६१६ मे कलकत्ता विश्वविद्यालय की मेधावी छात्रा रेजीना गुप्त कानून की परीक्षा पास करके निकली और उन्होने कलकत्ता के अलीपुर कोर्ट जिला मे वकालत करने के लिए अर्जी दी। महिला वकील ! एक सनसनी मच गई और कलकत्ता हाईकोर्ट ने उनकी अर्जी नामजूर कर दी। उसके बाद तो भारत ने अनेक पोर्शियाए अपनी कचहरी म देखी। मिस नर्लैम, दीना अहमदुल्ला, दुर्गाबाई देशमुख, श्यामकुमारी खान, वॉयलेट अल्वा, अनुसूया दत्त, अमीनानागी, परवेज भजगाववाला, फेन क्षाववाला, सुजाता मनोहर। सूची बढती ही चली जा सकती है। इन महिला वकीलो और बैरिस्टरो के सामने अजीबो-गरीब अडचनें आई हैं। कुछ साथी पुरुष वकीलो ने महिला वकीलो से प्रतिद्वन्द्विता करने मे हतक-इज्जत समझी, तो किसीने कहा कि ये मर्दाने वेश मे अपना स्त्रीत्व छुपाकर आए अन्यथा ज्यूरी और अदालत से इन्हें नाजायज सहानुभूति मिल जाएगी। बहुतो ने यह आरोप लगाया कि वकालत इन लडकियो के लिए शादी न होने तक वक्त काटने की तफरीह है और इस बीच कोई अच्छा वकील ही काटा निगल गया तो वारे-न्यारे हैं। इन सब दलीलो मे सचाई कोई है तो सिर्फ इतनी कि भारतीय पुरुषो को अभी स्त्रियो के सामीप्य की आदत नही है और इसीलिए वह खुद अपनी प्रतिक्रियाओ के खतरो की तरफ सावधान रहना चाहता है।

इसमे कोई सदेह नही कि नारी-शिक्षा के साथ-साथ उसके कार्य-क्षितिज

फैलते चले जा रहे हैं। भारत म शिक्षा का अभाव अभी इतना अधिक है कि स्त्री-शिक्षा के आकडे प्रभावशाली नही। लेकिन जब एक दशक में अदर अक्षर-ज्ञान प्रतिशत गावो मे ८ ५४ से बढकर १३ ० और शहरो मे ३४ ५१ से बढकर ४२ ० पहुचा है, तो एक आशा जरूर बधती है। एक रोचक सर्वे के अनुसार पिछले बीस वर्षों मे विवाह-विज्ञापनो मे लडकी की आयु षोडशी से बीस वर्षीया से ऊपर जा पहुची है। इसी तरह समाज के आर्थिक ढाचे पर यह बात प्रकाश डालती है कि इन्ही विज्ञापनो मे लडकी के कुशल गृहिणीत्व के गुणो की अपेक्षा उच्च शिक्षा प्राप्ति और नौकरीयापता होन को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है।

यदि कहे कि ५० से १०० साल पहले भारतीय नारी के दो ही कार्य-क्षेत्र थे—घर और कोठा—तो शायद इसमे बहुत अतिशयोक्ति न हो। आज इसमे आमूल-चूल परिवर्तन हैं—यह भी स्वत सिद्ध है। महिलाओ ने हथकरघे और अन्य गृह-उद्योगो को बखूबी सभाला हुआ है। बडे शहरो के हर मुहल्ले म एक ऐसा घर मिल जाएगा जहा या तो पापड-बडिया बनाकर लिफाफो मे पैक होते है, या गराज मे छपाई कढाई रगाई और बाटिक का कारखाना खुला हुआ है। चार दर्जी बिठाकर सिलाई हो रही है। तैयार वस्त्रो की हर तीन महीने नुमाइश होती है और अच्छी-खासी आमदनी घर मे आ जाती है। इसी तरह फर्नीचर बनवाने, छोटे-बडे स्कूल चलाने (चाहे वह पढाई का हो या पाक शिक्षा, शृ गार-सज्जा, गृह-सज्जा या सिलाई कढाई का), प्रकाशन, दस्तकारी, आदि के कितने ही लघु उद्योग महिलाए सुचारु रूप से चला रही हैं। उनके कलात्मक निर्माण इतने मौलिक होते हैं कि निर्यात के लिए उनकी माग बराबर बनी रहती है। हर सुन्दर सुरुचिपूर्ण बुतीक के पीछे एक योग्य, सुसस्कृत नारी का मस्तिष्क है। होटल-व्यवस्था, विज्ञापनी व्यवसाय, मॉडलिंग, नुमाइश और विज्ञापन-उपलब्धि के कार्य आज महिलाओं के बिना सभव नही। असाधारण कार्य क्षेत्र भी अब नारी की पहुच से बाहर नही रह गए है। जयती मुखर्जी हवाई जहाज से पैराशूटी उतराई करने वाली पहली महिला थी और किरण वेदी पहली पुलिस अफसर। ये द्वार अब स्त्रियो के लिए उन्मुक्त हो चुके है। दुनिया की ऊची-से-ऊची पहाड की चोटी पर कदम रखना अब उसके लिए सभव है। कैलाश, हनुमान टिब्बा गगोत्री, त्रिशूल आदि चोटिया साहसी भारतीया के कदम नाप चुके हैं और एवरेस्ट विजय तक का क्षेत्र महिलाओ ने पाया है। आई० ए० एस० और आई० एफ० एस० की परीक्षाओ के परिणाम जब निकलते हैं तो प्रथम पाच मे स्त्री-नाम जरूर होता है। महिला इजीनियर और भवन निर्माण कलाविद् क्या अब केवल पुरुष रह गए है? पत्रकारिता मे दीप्त स्त्री-नामो का जिक्र करना शायद एक पुरानी बात को दुहराना ही होगा। इसी तरह खेल-कूद के मैदान के हर कोने मे लडकिया उतरी हुई हैं। चाहे वह अतर्राष्ट्रीय दौड-प्रतियोगिता हो या अचूक निशानेबाजी या अद्भुत घुडसवारी

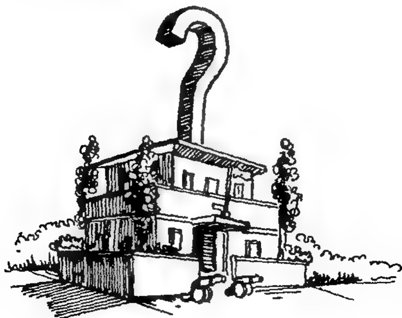
का कमाल।

कला का क्षेत्र विशेष रूप से महिलाओ का प्रागण रहा है किन्तु उसमे भी नई गरिमा, नई पदोन्नति आई है। उन्नति महिलाओ की नही, उनके कारण विविध कला-रसो की हुई है। फिल्म जैसे लोकप्रिय मनोरजन के साधन से लेकर साहित्य, नृत्य, सगीत, नाटक, चित्रकला—सभीमे स्त्रियो ने देश और विदेश मे अपना नाम उजागर किया है।

जे० बी० प्रिस्टले नारी-स्वतत्रता के बहुत बडे हिमायती रहे हैं और उनके अनुभव के अनुसार, महिला कार्यकर्ता पुरुषो से अधिक अतर्विवेकी—स्पष्ट-मति, साहसी और कम-निदक तथा कम अहवादी होती है। इसी सदर्भ मे वे कहते हैं :

"जब कोई स्त्री अचानक सत्ता पाने पर अटपटा महसूस करती है या हास्यास्पद-सी दिखती है तो इसलिए कि उसे यह भूमिका पुरुषोचित शैली मे निभाने को कहा जाता है। उससे अपनापन खोने की अपेक्षा की जाती है।' भारतीय महिलाए भी जब शुरू-शुरू मे घर मे बाहर निकली थी तो उनमे एक विचित्र पुरुषत्व का आभास मिलता था। मोटी सी साडी लापरवाही से बाधकर एक शृ गार-विहीना, अनाकर्षक नारी पुरुष के समक्ष आ खडी होती थी। सभवत यह उसका अपने बचाव का एक उपाय था या अपने को पुरुष की बराबरी दिलाने का साधन। अब उसे इसकी अपेक्षा नही रही। अब कार्यशील महिलाए अपनी नैसर्गिक कोमलता और स्त्री-सुलभ सौंदर्य के प्रति भी उतनी ही सचेष्ट है जितनी वे अपनी कार्य-सबधी जिम्मेदारी के प्रति। यही आकर भारतीय और पाश्चात्य मुक्ति-आदोलन बहुत अलग हो जाता है। पश्चिम मे नारी पुरुष को जीतने के लिए लड रही है। इसलिए वहा के मुक्ति-आदोलन मे सबसे पहले नारी को अपने नारीत्व से मुक्ति लेनी पडी। भारतीय नारी पुरुष के समकक्ष आने के लिए आदोलन कर रही थी और कर रही है। उसका आदोलन आक्रामक नही है। इसीलिए आज हर कार्य-शील महिला एक सुखद सतुलन के लिए प्रयत्नशील रहती है। वह व्यवसाय मे पुरुष से आगे बढकर सचेत है लेकिन घर, स्वस्थ बच्चे और स्नेही व यशस्वी पति को खोने के लिए तैयार नहीं है।

खण्ड 4



राजनीतिक

चीन हमेशा का अफीमची है
अफीम पोस्त से आए या माओ से
अमरीका का हाल देख ही रहे हो
चरस है, गांजा और एल० एस० डी०
हमारा तो भूत-वर्तमान सब दुरुस्त है
नश्वर शरीर सब पर पनपता है
अरहर मे केसरी भी चलती है
मुफ्त वोद्का व्हिस्की का पेग भी
मजे मे गले से उतरता है

पूर्वी अफ्रीका से निष्कासन : दो वक्तव्य

- ☐ केन्याई भारतीय का पत्र 'पिता' के नाम
- ☐ भारत का उत्तर : 'पुत्र' के नाम

(ब्रिटेन, भारत और केन्या सरकार के कानूनी त्रिकोण में उलझे केन्या के प्रवासी भारतीयों की समस्या के दोनों पहलुओं का भावपूर्ण चित्रण, दो आत्मीय पत्रों के माध्यम से)

केन्याई भारतीय का पत्र : 'पिता' के नाम

अनागरिकता के पशु ने मुझे अपने पैने सींगों मे खदेड़कर निराश्रयता के सागर-तट पर ला पटका है। घावों से लहू की अंतिम बूंद रिस आने के पहले, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का जाप करने वाले पिता (?) भारत को एक बार और ललकारना चाहता हूं कि वह मेरी आंखों मे आंखें डालकर यह कह दे कि यह लहू उसका नही है।

अशोक ने अपने पुत्र और पुत्री को बौद्धधर्म का प्रचार करने विदेशो में भेजा था। अनगनित श्रेष्ठिपुत्र रत्नों और भारतीय रेशम से भरी नौकाएं लेकर जाते थे और विदेशों मे व्यापारियों की पीढ़ियां स्थापित हो जाती थीं। स्वयं अशोक ने अपने अभिलेख में खुदवाया कि उसने यूनानी राजाओं के पांच यूनानी खण्डों मे औषधियां बांटने तथा रोगों का उपचार करने अनेक भारतीय वैद्यों को भेजा था। मेरे वंशज इतने महान तो नही थे, किन्तु वे भी पूर्वी अफ्रीका मे सत्ताधारी अंग्रेजों द्वारा वहां रेल-लाइन का जाल बिछाने पर मजदूरी की खोज मे चले आए। रोटी कपड़ा, लम्बी अवधि के काम—हमारा सामाजिक जीवन यहीं बस गया। पत्नी-

बच्चो सहित हमारी जड़ें अफ्रीकी धरती से रस लेने लगी। हमे क्या पता था कि हम न घर के रहे हैं न घाट के। आज लगता है, जैसे हम या तो पापी हैं, या देश द्रोही या ऐसे ही कुछ जघन्य। हमारे पेट ने हमें इस भवर मे लाकर छोड दिया है।

हमने सुना-पढा था कि माता-पिता के मन मे अपनी सभी सतान के लिए एक वात्सल्य होता है, बल्कि जो किसी ढग से साधारण और हीन है, उसके प्रति कुछ अधिक ही ममत्व रहता है, क्योकि जनक उसके प्रति अधिक उत्तरदायित्व महसूस करता है। हमारे भाग्य मे क्या वह गौरवहीन ममत्व भी न था ? इस देश का दिल अचानक इतना सिकुड कैसे गया ? हमारे बच्चे जब मातृभाषा सीखते थे, तो उन्हे जयशकरप्रसाद पढाए जाते थे—'बरसाती आखो के बादल बनते जहा भरे करुणा जल' और उडते खग जिस ओर मुह किए, समझ नीड निज प्यारा। हमने कभी सोचा ही न था कि यह कोरी कल्पना है—कसौटी पर खोटी साबित होगी। भारत मे हमारे मित्र थे आलम और कुरेशी, हमारा रोटी-बेटी का सम्बन्ध पारसियो से था, ताजमहल हमारी शान की निशानी था। जिस देश मे मगोल, बर्मी, तिब्बती, नेपाली, चीनी और निलोची आकर एक हो गए, जहा आर्य-अनार्य रक्त गगा और यमुना के पानी की तरह मिल गया वहा से हम इस देश की जायज सतान ७०-७५ वर्ष की अनुपस्थिति के कारण दूध की मक्खी की तरह निकालकर फेंक दिए जाएगे, यह क्या कभी सपने मे भी सोचा जा सकता था ?

क्या हम एक लाख केन्याई भारतीय क्रीतदासो की तरह हाथ जोडकर खडे हो जाए और अपने पुष्ट अगो का प्रदर्शन करें ? कहे, केन्या की स्वतत्रता प्राप्ति मे हमने उस देश के कधा-से कधा भिडाकर काम किया। पहला अग्रज विरोधी समाचार-पत्र हमारी निर्भीकता के कारण छप सका था। हम सूखी रेत से तेल निकाल सकते हैं, खाली जेब महल उठा सकते हैं, हममे सबको अपना लेने की अद्भुत शक्ति है, हमारे व्यापारिक ज्ञान की देन तुम जैसे विकासशील देश के लिए अमूल्य सिद्ध होगी। अतर्राष्ट्रीय भाईचारे मे हमारे बच्चे मजबूत सूत्र बन सकते है। हमे खरीद लो, अपने दरवाजे पर पडा रहने दो। क्या इस तरह बोली लगवाने से तुम्हारा सिर बहुत ऊचा उठ जाएगा ?

१९६३ मे केन्या-स्वतत्रता के बाद हमारे सामने प्रस्ताव आया कि हम अपनी नागरिकता तय कर लें। हम अपने-आपको केन्या का अग समझने लगे थे, पर हमने पाया कि केन्या का स्वतत्र नागरिक हमारी समृद्धि को नही सह पा रहा। उसकी आखें हमारी दुकान, मकान और बैंक बैलेंस पर हैं। इस आकस्मिक परिवर्तन के समय ब्रिटेन ने दोस्ती का हाथ बढाया और सुझाया कि हम ब्रिटिश पासपोर्ट ले लेना चाहिए। हमारी आखो मे भारतीय पासपोर्ट के मुकाबले, विजेता, गोरे देश का पासपोर्ट कही अधिक सुनहरा दिखाई दिया। हममे से अधिकाश ने उसे ही चुना। इस दोस्ती के पीछे जो चाल थी, वह हम नही, लेकिन केन्या सरकार

समझ गई। अंग्रेज चाहता था कि जैसे ही हम हटें, सारे महत्त्वपूर्ण व्यापार वह हथिया ले। केन्या सरकार ने उनके इरादों के पट बद कर दिए। ब्रिटेन ने जब हमारी उपयोगिता समाप्त होती देखी, तो १९६८ में बिल पास किया कि वे एक साल म १५०० से अधिक एशियाई केन्यावासियो को अपने देश म नही आने देंगे। उधर ३१ दिसम्बर, १९६८ को केन्या सरकार ने सूचना दी कि अगली सुबह से ही अधिकाश भारतीय व्यापारियो को अपनी दुकान बढानी होगी। इस प्रकार हर तीन एशियाई दुकानदारो मे एक दुकानदार बेकार हो गया। इसके अलावा उन्हे चीनी, सिगरेट, मिट्टी का तेल, घी, कीलें और कई बुनियादी चीजो के व्यापार म हाथ लगाना निषिद्ध हो गया। एक चीज और ! हम बिलकुल ही अधे नही थे। इनमे से बहुतो न केन्याई नागरिकता अपनाने के लिए यथासमय अर्जी दे दी थी, जिनका गगनचुबी अबार केन्या सरकार को छूने की फुरसत न मिली और निर्धारित अवधि निकल गई।

भारत कानून की आड ले रहा है, ब्रिटेन कानून की आड ले रहा है, केन्या कानूनी कार्यवाही की धमकी दे रहा है—इस आग लगे जगल मे भटक रह है हम एक लाख केन्याई भारतीय—यह असहाय उत्सर्ग कितना भयानक है, कितना अपमानकारी !

भारत का उत्तर : 'पुत्र' के नाम

तुमने मेरे पितृत्व को ललकारा है, उस खून की गवाही दी है, जो तुम्हारी-मेरी रगो मे एक है। यह भी याद दिलाया है कि सतान की रक्षा पिता का धर्म है। तुम्हारी दृष्टि मे मैं स्नेह, परपरा और धर्म सब दिशाओ म अन्यायी हू। उत्तर म तुमसे बहुत कुछ कह सकता था। यह कि मुझसे जी खोलकर बात करने की तुम्हे आज ही क्यो सूझी ? यह भी कि पिता-पुत्र सम्बन्ध सिर्फ रक्त का नही, भावना का अधिक होता है। और यह भी कि कठिनाई मे पडकर अपनी मान्यताओ और आस्थाओं से डिग जाने वाला कायर कहलाता है। लेकिन इनमे से कुछ भी मैं नही कहूगा। जब पुत्र वयस्क हो जाता है, तो वह साथी हो जाता है, उसी बराबरी पर आकर मैं भी तुमसे कुछ बात करना चाहता हू।

लगभग १० वर्ष पूर्व विज्ञान और तकनीकी ज्ञान प्राप्त ४००० भारतीय विदेशो मे रहते थे। जब बर्मा आजाद हुआ, तब वहा का करीब-करीब सारा मुख्य व्यापार दक्षिण भारतीय चेट्टियार वर्ग के हाथ मे था। इसी प्रकार १९६४ मे लका मे लगभग १० लाख भारतीय रह रहे थे। १९६५ मे अमरिकी विधान के फलस्वरूप शिक्षित भारतीय और भी बडी मात्रा मे वहा पहुच रहे है। यह तो हुई विशेष शिक्षा प्राप्त भारतीयो की बात। वैसे श्रम मत्रालय की रिपोर्ट के अनुसार ४० लाख भारतीय कुल विदेशो मे फैले हुए हैं।

अब एक नजर भारत-भूमि पर डालो। यहा ६० करोड से ऊपर की आबादी है। ३३ करोड ग्रामीण ६८ पैसे रोज, और १ करोड केवल २७ पैसे रोज पर गुजारा करते हैं। इनमे अधिकाश आधे पेट भोजन पर रहते हैं और न जाने कितनो के सिर पर छत नही है। मैं इन सबका पिता हू। तुम बताओ, इनमे से किसकी आमदनी मे हिस्सा बटाना चाहते हो तुम? और कितनो को भोजन व आश्रय से रहित किया जाए कि तुम्हे सहारा मिले?

कभी तुमने यह भी सोचा कि विदेशियो को अपनी भूमि से खदेड देने की लहर को, बिभिन्नता और दूरी की खाइयो को, और चौडा यदि करना है, तो उसका सबसे सफल हथियार होगा तुम्हे अपनी बाहो मे भर लेना। निराश्रयता के तुम्हारे एहसास से सिर्फ तुम्हारी ही नही, सारी दुनिया की आखें खुल रही है। उनकी भी, जो नागरिकता को पुराने-नये वस्त्र की तरह उतार-ओढ लेना चाहते हैं और उन देशो की भी, जो बिना आगा-पीछा देखे किसीको भी न्योतने को तैयार रहते हैं। परिवार-नियोजन के लाल तिकोनो से रगी इस धरती पर यदि ४० लाख विदेशो मे बसे भारतीय उमड पडे, तो क्या होगा?

तुम यह कह सकते हो कि देश से बाहर कदम रखने की यह सजा बहुत भयकर है कि उसका दरवाजा ही हमेशा के लिए तुम्हारे प्रति बन्द हो जाए। लेकिन तुम सिर्फ कुछ दिन को बाहर नही गए थे, तुमने देश ही बदल डाला था, अपनी मातृ-भूमि का त्याग किया था, दूसरी धरती पर अपने बीज रोपे थे। इतना बडा कदम असावधानी मे नही उठाया जाता और अज्ञान कभी समुचित बहाना नही बन सकता। तुमने केन्या की स्वतन्त्रता मे हाथ बटाया, लेकिन भारत के स्वतन्त्रता-सग्राम से तुम अछूते रहे। अगर उसमे भी भाग लिया होता, तो उन विदेशी शासको की चाल स्वय समझ जाते। हमारा उनसे ३०० वर्षों का नाता है। वह एक तिजारती कौम है, जो सिर्फ फायदे की भाषा बोलना जानती है। मैं तो कहूगा कि तुमने भी उनसे वही भाषा बोलनी सीख ली। सच कहो कि क्या तुमपर यह आरोप गलत है कि तुम उस व्यापारिक वर्ग के हो, जो केन्याई पैसे से सालाना पिकनिक मनाने लदन जाता है और भारत म जागीर बनाने आता है?

तुम्हारे सामने एक और अवसर आया। अपनी वफादारी तय करने का अवसर! लेकिन उस समय भी तुम्हे यह ध्यान न आया कि स्वदेश लौट चलें। उसे हमारे अनुभव की आवश्यकता है, हमारी दौलत उसके काम आ सकती है, हमारी प्रखर व्यापारिक बुद्धि उसकी सैकडो मुश्किलें आसान कर सकती है। उस समय तुमने अपनी दासता-वृत्ति से उबरने का प्रयास नही किया। तुम खुद मानते हो कि ब्रिटिश पासपोर्ट का रग तुम्हे कही ज्यादा लुभावना और आकर्षक लगा।

आज मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हू? न तुम्हारे बच्चो को अच्छी शिक्षा दे सकता हू, न तुम्हे रोजगार! सही वातावरण भी मेरे यहा नही है। इन सबसे

प्ररित होकर वयस्क पुत्र, जो कुछ तय कर लेता है, उसकी सारी अच्छी-बु
सभावनाओ को उसे ही झेलना होता है। अब तुम पुत्र नही, एक व्यापारी हो। ०
इकाई, जो अपनी हर सफलता के लिए खुद बधाई का पात्र है और अपनी हर भ
के लिए खुद उत्तरदायी।

बंगाल का बाघ-घेराव

गांधीजी ने जिस दिन बिना शर्त अपनी बात मनवाने की कल्पना की थी, वास्तव में उसी दिन घेराव' का तात्त्विक जन्म हो गया था। किन्तु आज घेराव का जो रूप हमारे सामने है, वह बापू की अहिंसक कल्पना से कोसो परे है। सत्याग्रह मे आत्मपीडन के द्वारा दूसरे के सम्मुख अपनी माग की सत्यता प्रदर्शित की जाती थी और घेराव म परपीडन द्वारा दूसरे को अपनी माग के आगे झुकने पर मजबूर किया जाता है।

२४ अगस्त, १९६६ को सयुक्त महाराष्ट्र समिति ने, जिसकी माग रही कि मैसूर के मराठी-भाषी भाग महाराष्ट्र मे सम्मिलित होने चाहिए, बम्बई मे एक हुजूम इकट्ठा किया था और आवाज लगाई थी— सचिवालय का घेरा डालो।' समिति की योजना थी कि सचिवालय म उस रोज काम बन्द करवा दिया जाए। सरकार योजना भाप गई और वहा धारा १४४ लगा दी गई। फलत समिति के वॉलिंटियर सचिवालय से दूर खडे रह गए। पर फिर उन्होने फौरन ही पैतरा बदला और पुलिस के घेरे पर ही घेरा डाल दिया। कोई कर्मचारी सचिवालय के अदर न जा सका और इस तरह वे अपने ध्येय म सफल हुए। यही घटना वर्तमान घेराव का जन्म थी। इसके बाद म यो इक्के दुक्के घेराव देश भर म होते रहे किन्तु वास्तव मे घेराव पनपा भारत के दूसरे कोने मे यानी दूर—पश्चिम बगाल मे।

पश्चिम बगाल म अजय मुखर्जी की सयुक्त मोर्चा सरकार को अभी एक महीना भी पूरा नही हुआ था कि सारा राज्य, मजदूर-असतोष स आक्रात हो उठा। नौबत यहा तक पहुची कि श्री मुखर्जी ने इस मामले को निबटाने के लिए मजदूर-सघ नेताओ की एक बैठक बुलाई। उसम ऐसा जान पडा कि सरकार, श्रमिक वर्ग की इस प्रवृत्ति के विरुद्ध है कि वह अपनी माग गैर-कानूनी ढग से पूरा करने का

प्रयत्न करें। मूल रूप मे श्रमिकों की माग थी वेतन मे वृद्धि। किन्तु कई कारणों से देश का व्यापार मदा पड गया था और कई कारखाने बन्द कर दिए गए और हजारो मजदूर बेकार हो गए। स्थिति सभलने की बजाय बिगडती ही चली गई और मजदूरों की व्यग्रता भी बढती गई। मजदूर अदालती लडाई, समझौते, बीच-बचाव—सबकी लम्बाई चौडाई और निष्फलता से पूरी तरह ऊब चुका था। उसने यह नया हथियार उठाया—घेराव। बगाल मे सयुक्त मोर्चा सरकार ने बागडोर सभाली थी मार्च मे और अप्रैल के अन्त तक १४४ छोटे-बडे घेराव वहा हो चुके थे।

घेराव की प्रवृत्ति जगल की आग की तरह फैलती चली गई। जहा भीड इकट्ठी होती है और उसका मन अत्याचार से दमित होने की प्रतीति से बधा होता है तो उसमे हिंसा फूटकर रहती है। भारत का स्वतन्त्रता-अभियान इसी दृष्टि से सामाजिक दर्शन मे एक चमत्कार बनकर रहेगा। लाखो लोगों के समूह जिनके दिलो के देश की पराधीनता आग धधकाए रखती थी, जुडते थे लेकिन हिंसा को अधिकतर मन मे पनपने नही देते थे। इस पूरे गाधीवादी स्वतन्त्रता सग्राम मे भी हिंसा के दर्शन करने वाले कुछ विचारक भी हैं, किन्तु उसके वास्तविक और क्रियात्मक अहिंसावाद से इकार नही किया जा सकता। लेकिन सन् ६६ मे प्रारभ होने वाले स्वाधीन भारत के ये घेराव अहिंसावादी नही रह, चाहे उनके हिंसाभाव के पीछे कतिपय राजनीतिक दलो का हाथ हो, चाहे गुडागर्दी का, चाहे समूह वृत्ति का और चाहे व्यक्तिगत व सामाजिक दमित-मनोभावो का।

आम तौर पर घेराव मे कुछ व्यक्ति एक कमरे या दफ्तर या फिर घर का घेरा डाल लेते हैं। यह घेरा तब तक उठाया नही जाता जब तक उनकी मागें पूरी करने का वायदा नही कर लिया जाता। अक्सर इसमे कटु वैमनस्य आ जाता है। मागकर्ता धरना तो दे देते हैं, नारे लगाते हैं और गाली गलौज भी शुरू कर सकते हैं। कई बार घेरे हुए व्यक्ति के पास खाना-पानी, टेलीफोन और बिजली आदि की सुविधाएं रोक दी जाती हैं। कुछ घटो से लेकर कई दिनो तक इसकी अवधि खिच सकती है। कई जगह से समाचार मिले कि घिरे हुए व्यक्तियो को घेराव का बोझ सहन न कर पाने के कारण दिल के दौरे और मानसिक असतुलन का शिकार होना पडा। एक कारखाने के इजीनियर को छोटे-से कमरे मे बन्द कर १००० वॉट के चार बल्ब लगातार जलाकर रखा गया। एक और अधिकारी को जबरदस्ती भट्ठी के सामने इतनी देर खडा रखा कि वह बेहोश होकर गिर पडा। कलकत्ता के ही एक अन्य ५० वर्षीय अधिकारी को चौदह घटे धूप मे खडा रखा गया। और भी अनेक विश्वसनीय, अविश्वसनीय समाचार पढने को मिलते रहते हैं। इस तरह शारीरिक और मानसिक यत्रणा घेराव का आवश्यक अग बनने लगी।

कोई आश्चर्य नही कि इन अत्याचारो से तग आकर अधिकारियो को अदालत की शरण मे जाना पडा। जे० इजीनियरिंग वर्क्स उच्च न्यायालय तक पहुच गया। इस सिलसिले मे पश्चिम बगाल सरकार की श्रम-नीति पर भी विचार-विनिमय हुआ जो कि समस्त वैधानिक गतिविधियों मे, जिनमें हडताल और घेराव भी सम्मिलित हैं, पुलिस का हस्तक्षेप अनुचित मानती है। आखिरकार सयुक्त मोर्चा सरकार ने एक विज्ञप्ति जारी की जिसमे जिला अधिकारियों और कलकत्ता के पुलिस कमिश्नर को स्पष्ट आदेश दिया गया था कि उद्योग-सस्थानो पर घेराव की स्थिति मे तब तक पुलिस न भेजी जाए जब तक श्रम-मत्री की सहमति व निर्देश न मिल जाए। जे० इजीनियरिंग के केस पर मुख्य न्यायाधीश ने निर्णय दिया कि उनपर किया गया घेराव गैरकानूनी था। और श्रममत्री का पुलिस का हस्तक्षेप कराना भी अनुचित था। न्यायालय के निर्णयो का सदा से सम्मान किया जा रहा है, और उनकी अवहेलना करना अपने-आपमें उच्चतम अपराध की कोटि म आता है। किन्तु बगाल में एक विचित्र ही स्थिति दिखाई दी। उच्च न्यायालय की घोषणा के बावजूद बाद के घेराव म भी पुलिस अलग-थलग ही रही। ऐसा कैसे हो गया ? उत्तर विचित्र किन्तु स्पष्ट है—हर राज्य की पुलिस अपनी सरकार से आज्ञा ग्रहण करती है। बगाल की पुलिस भी अपनी सरकार की नीति के अनुसार आचरण करती रही। न्यायालय के निर्णय से उसे कोई मतलब न था। स्थिति ज्यो-की-त्यो बनी रही। घेराव भी बदस्तूर जारी रहे और व्यवस्थापको की असुरक्षा की भावना भी कम न हुई।

जब इन घेरावो के अमानुषिक कृत्यो की निन्दा की जाती है तो श्रमिक वर्ग पूछता है कि क्या मजदूर के परिवार को जीवन भर आधा पेट भोजन देना, उसके बच्चो को शिक्षा की सुविधा से वचित रखना, मजदूर से जानवर से बदतर स्थितियों मे काम करवाना—नृशस और अमानुषिक नही है ? जब उससे कहा जाता है कि अत्याचार का अत्याचार स ही दूर करने का प्रयत्न कहा की बुद्धिमानी है तो उसका उत्तर होता है कि हर सिद्धि के लिए बलि चढानी पडती है। इतिहास साक्षी है। मार्टिन लूथर द्वारा पोप की सत्ता का स्खलन, फ्रास की क्राति, रूस की क्राति सब यही दुहराते हैं। इधर उद्योगपति अपनी मजबूरी बयान करते हैं। उनके अनुसार, पिछली दशाब्दी मे मजदूर की दशा कही-से-कही आ पहुची है। आज उसे जितनी सुविधा और अधिकार प्राप्त हैं, उनकी पहले कल्पना भी नही की जा सकती थी। इसके विपरीत व्यापार का जबरदस्त मदे का झटका लगा इसलिए अनक कपडो की मिलें बन्द हो गई हैं। एक समय आया, जब मालिक *नियत स अधिक मूल्य देने को तैयार था। लेकिन कपास गायब था। इजीनियरी* उद्योग के सामने पहले सामान की माग-ही-माग थी और आज सामान-ही-सामान था—उसकी माग नही थी। य सब परेशानिया और ऊपर से घेराव ?

सत्याग्रह, धरना, हडताल—सभी आधुनिक राजनीति के दाव-पेंच हैं। जिसके हाथ मे अधिकार, धन अथवा शस्त्र की शक्ति नही है, उसकी सहायता ये ही कर पाते हैं। पहले समाचारपत्र हडताल की खबरो से भरे रहते थे और आज घेराव भी उसमे आ मिला है। सारे श्रमिक-सघ अपनी हर माग के लिए हडताल की धमकी देते थे। धीरे-धीरे मालिकवर्ग इन धमकियों की आजमाइश पर उतर आया। मिलों मे हडताल हुई और मालिको ने तालाबदी कर दी। कुछ अर्से बाद स्थिति यह हो जाती थी कि देश और मजदूर दोनों मिल अथवा संस्थान खुलवाने, काम चालू करवाने के लिए पूरे प्रयत्न प्रारम्भ कर देते थे। न देश नुकसान झेल सकता और मजदूर के घर में तो चूल्हा ही बुझा पडा रहता था। इस सबमे हानि मजदूर-सघ को भी उठानी पडती थी— विश्वास और क्षमता दोनों की। यह आवश्यक हो गया था कि कोई और जोरदार मार्ग ढूढकर अपने प्रभुत्व, प्रभाव को बनाए रखें। मजदूर की उन्नति का रास्ता भी लगभग बन्द-सा दिखाई दे रहा था। ऐसे मे दो नये हथियार सामने आए—तालाबदी का ही विस्तृत पर्याय—'बद' और अधिकारियो पर मात्र धनहानि के भय से हटकर अन्य व्यक्तिगत और मानसिक तात्कालिक दबाव डालने वाला 'घेराव'।

हो सकता है कि इन हथियारों के प्रयोग से श्रमिक-नेताओं की आस फिर बनी हो और किसी मात्रा म श्रमिकों ने भी कुछ उपलब्ध किया हो किन्तु अतर्ध्वंस का यह रूप बहुत भयकर नैतिक अवयस्कता का परिचायक है। बन्द के ही एक मूर्त रूप को ले लें। बगाल म २४ घंटे की अवधि का, सरकार-नियोजित, प्रदेश-व्यापी बन्द हुआ। यह बन्द राज्य की खाद्य-समस्या के प्रति केन्द्र के 'असहानुभूतिपूर्ण' रवैये के विरुद्ध किया गया था। सचिवालय, डाक-तार विभाग, रेल, ट्राम, हवाई अड्डे और बन्दरगाह का यातायात, शेयर बाजार सब बन्द हो गए। उस चौरंगी पर, जहा आए दिन ट्रैफिक-जैम होते रहते हैं, लोग बैठे ताश पीट रहे थे और मजा यह कि बन्द के कारण अन्न से भरे सात सौ रेल के डिब्बे भी प्रदेश भर में रुके पडे रहे। इस बन्द मे तथा अन्य बन्द मे एक खास फर्क था। इसम राज्य-सरकार ने घोषणा कर दी थी कि वह भी एक दिन के लिए शासन नही करेगी।

इससे पहले ही बगाल के छ मत्री अन्न की तलाश म जा चुके थे नई दिल्ली। वे वहा से आश्वस्त होकर लौटे कि सचमुच केन्द्र की झोली मे इतने हाथ है कि इनकी मुट्ठी मे इससे और अधिक अन्न नही आ सकता। फिर भी बगाल-बन्द होकर रहा। तो क्या है—'बन्द'? ये घेराव किसी सिद्धि का माध्यम न होकर स्वय सिद्धि ही बन गए है? पश्चिम बगाल की हालत देखकर देश के सभी राज्य सतर्क हो गए। उत्तरप्रदेश, केरल, मद्रास, तमिलनाडु, महाराष्ट्र जैसे अनेक उद्योग-प्रधान राज्यो ने एकमत होकर घेराव की निन्दा की और वहा

कोई आश्चर्य नहीं कि इन अत्याचारों से तंग आकर अधिकारियों को अदालत की शरण में जाना पड़ा। जे० इंजीनियरिंग वर्क्स उच्च न्यायालय तक पहुंच गया। इस सिलसिले में पश्चिम बंगाल सरकार की श्रम नीति पर भी विचार विनिमय हुआ जो कि समस्त वैधानिक गतिविधियों में जिनमें हड़ताल और घेराव भी सम्मिलित हैं पुलिस का हस्तक्षेप अनुचित मानती है। आखिरकार संयुक्त मोर्चा सरकार ने एक विज्ञप्ति जारी की जिसमें जिला अधिकारियों और कलकत्ता के पुलिस कमिश्नर को स्पष्ट आदेश दिया गया था कि उद्योग संस्थानों पर घेराव की स्थिति में तब तक पुलिस न भेजी जाए जब तक श्रम मंत्री की सहमति व निर्देश न मिल जाए। जे० इंजीनियरिंग के केस पर मुख्य न्यायाधीश ने निर्णय दिया कि उनपर किया गया घेराव गैरकानूनी था। और श्रममंत्री का पुलिस का हस्तक्षेप कराना भी अनुचित था। न्यायालय के निर्णयों का सदा से सम्मान किया जा रहा है, और उनकी अवहेलना करना अपने आपमें उच्चतम अपराध की कोटि में आता है। किन्तु बंगाल में एक विचित्र ही स्थिति दिखाई दी। उच्च न्यायालय की घोषणा के बावजूद बाद के घेराव में भी पुलिस अलग थलग ही रही। ऐसा कैसे हो गया? उत्तर विचित्र किन्तु स्पष्ट है—हर राज्य की पुलिस अपनी सरकार से आज्ञा ग्रहण करती है। बंगाल की पुलिस भी अपनी सरकार की नीति के अनुसार आचरण करती रही। न्यायालय के निर्णय से उसे कोई मतलब न था। स्थिति ज्यों की-त्यों बनी रही। घेराव भी बदस्तूर जारी रहे और व्यवस्थापकों की असुरक्षा की भावना भी कम न हुई।

जब इन घेरावों में अमानुषिक कृत्यों की निन्दा की जाती है तो श्रमिक वर्ग पूछता है कि क्या मजदूर के परिवार को जीवन भर आधा पेट भोजन देना उसके बच्चों को शिक्षा की सुविधा से वंचित रखना, मजदूर से जानवर से बदतर स्थितियों में काम करवाना—नृशंस और अमानुषिक नहीं है? जब उससे कहा जाता है कि अत्याचार को अत्याचार से ही दूर करने का प्रयत्न कहां की बुद्धिमानी है तो उसका उत्तर होता है कि हर सिद्धि के लिए बलि चढ़ानी पड़ती है। इतिहास साक्षी है। मार्टिन लूथर द्वारा पोप की सत्ता का स्खलन, फ्रांस की क्रांति रूस की क्रांति सब यही दुहराते हैं। इधर उद्योगपति अपनी मजबूरी बयान करते हैं। उनके अनुसार, पिछली दशाब्दी मे मजदूर की दशा कहीं-से कहीं आ पहुंची है। आज उसे जितनी सुविधा और अधिकार प्राप्त है, उनकी पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इसके विपरीत व्यापार को जबरदस्त मंदे का झटका लगा इसलिए अनेक कपड़ों की मिलें बन्द हो गई हैं। एक समय आया, जब मालिक नियत से अधिक मूल्य देने को तैयार था। लेकिन कपास गायब था। इंजीनियरी उद्योग के सामने पहले सामान की मांग ही मांग थी और आज सामान ही सामान था—उसकी मांग नहीं थी। ये सब परेशानियां और ऊपर से घेराव?

सत्याग्रह, धरना, हड़ताल—सभी आधुनिक राजनीति के दाव-पेंच है। जिसके हाथ मे अधिकार, धन अथवा शस्त्र की शक्ति नही है, उसकी सहायता ये ही कर पाते है। पहले समाचारपत्र हडताल की खबरो से भरे रहते थे और आज घेराव भी उसमे आ मिला है। सारे श्रमिक-सघ अपनी हर माग के लिए हडताल की धमकी देते थे। धीरे धीरे मालिकवर्ग इन धमकियो की आजमाइश पर उतर आया। मिलो मे हडताल हुई और मालिको ने तालाबदी कर दी। कुछ अर्से बाद स्थिति यह हो जाती थी कि देश और मजदूर दोनो मिल अथवा सस्थान खुलवाने, काम चालू करवाने के लिए पूरे प्रयत्न प्रारम्भ कर देते थे। न देश नुकसान झेल सकता और मजदूर के घर मे तो चूल्हा ही बुझा पडा रहता था। इस सबम हानि मजदूर-सघ को भी उठानी पडती थी—विश्वास और क्षमता दोनो की। यह आवश्यक हो गया था कि कोई और जोरदार मार्ग वे ढूढकर अपने प्रभुत्व, प्रभाव को बनाए रखें। मजदूर की उन्नति का रास्ता भी लगभग बन्द-सा दिखाई दे रहा था। ऐसे मे दो नये हथियार सामने आए—तालाबदी का ही विस्तृत पर्याय—'बद' और अधिकारियो पर मात्र धनहानि के भय से हटकर अन्य व्यक्तिगत और मानसिक तात्कालिक दबाव डालने वाला 'घेराव'।

हो सकता है कि इन हथियारो के प्रयोग से श्रमिक-नेताओं की आस फिर बनी हो और किसी मात्रा मे श्रमिको ने भी कुछ उपलब्ध किया हो किन्तु अतर्ध्वंस का यह रूप बहुत भयकर नैतिक अवयस्कता का परिचायक है। बन्द के ही एक मूर्त रूप को ले लें। बगाल म २४ घटे की अवधि का, सरकार-नियोजित, प्रदेश-व्यापी बन्द हुआ। यह बन्द राज्य की खाद्य-समस्या के प्रति केन्द्र के 'असहानुभूतिपूर्ण' रवैये के विरुद्ध किया गया था। सचिवालय, डाक-तार विभाग, रेल, ट्राम, हवाई अड्डे और बन्दरगाह का यातायात, शेयर बाजार सब बन्द हो गए। उस चौरगी पर, जहा आए दिन ट्रैफिक-जैम होते रहते हैं, लोग बैठे ताश पीट रहे थे और मजा यह कि बन्द के कारण अन्न मे भरे सात सौ रेल के डिब्बे भी प्रदेश भर मे रुके पडे रहे। इस बन्द मे तथा अन्य बन्द मे एक खास फर्क था। इसम राज्य-सरकार ने घोषणा कर दी थी कि वह भी एक दिन के लिए शासन नही करेगी।

इससे पहले ही बगाल के छः मत्री अन्न की तलाश मे जा चुके थे नई दिल्ली। वे वहा से आश्वस्त होकर लौटे कि सचमुच केन्द्र की झोली मे इतने हाथ है कि इनकी मुट्ठी मे इससे और अधिक अन्न नही आ सकता। फिर भी *बगाल-बन्द होकर रहा। तो क्या है—'बन्द'?* ये घेराव किसी सिद्धि का माध्यम न होकर स्वय सिद्धि ही बन गए हैं? पश्चिम बगाल की हालत देखकर देश के सभी राज्य सतर्क हो गए। उत्तरप्रदेश, केरल, मद्रास, तमिलनाडु, महाराष्ट्र जैसे अनेक उद्योग-प्रधान राज्यो ने एकमत होकर घेराव की निन्दा की और वहा

कि ये मजदूर ये इन हथकडो को सहन नही करेंगे। स्वय पश्चिम बगाल मे भी अनेक ऊहापोह मचे। मैसूर सरकार ने बगाल के उद्योगपतियो को अपने यहा उद्योग प्रारम्भ करने का न्योता दिया। केरल की ओर से भी इसी प्रकार का निमत्रण प्रेषित हुआ। बगाल की सरकार को एक अन्य वामपथी सरकार से इस प्रकार के व्यवहार की, और राज्य की सम्पत्ति बाहर ले जाने के प्रयत्न की उम्मीद कभी नही थी। सयुक्त मोर्चा पदाधिकारियो के घेराव 'बूमेरैंग' का भी काम करने लगा था। नक्सलवादियो से प्रभावित राज्य, बिजली बोर्ड की यूनियन ने अपने सघ को पुनर्मान्यता दिलाने और कुछ कर्मचारियो को नौकरी से हटाने के नोटिस के विरुद्ध जलढाका बिजलीघर के डाक बगले मे उद्योगमत्री सुशील-कुमार धाडा का चार दिन तक घेराव किए रखा। प्रत्युत्तर मे धाडाजी ने भी भूख हडताल कर दी। मानना पडा कि घेराव 'दुधारी तलवार' है। फिर भी घेराव की बाढ रोके न रुकी। आज 'हिन्दुस्तान स्टील', तो कल 'फाउंड्री वाटिल उद्योग' मे तो परसो 'कोल्हापुर इजीनियरी उद्योग' मे। लगा, सभी उद्योग इसमे बह जाएगे।

असल मे घेराव के खतरे से हम तभी सावधान हो जाना चाहिए था जब इसके चलते पहली सयुक्त मोर्चा सरकार मे पहली अनबन हुई थी। यह मतभेद मामूली नही था। इसने पूरी सरकार की सयुक्तता को छिन्न-भिन्न कर दिया था और परिणामस्वरूप बगाल मे राष्ट्रपति शासन घोषित किया गया था। बावजूद इसके दूसरी सयुक्त मोर्चा सरकार 'घेराव' की समर्थक रही और यही क्यो, हर अभावग्रस्त वर्ग ने इसकी छत्रच्छाया स्वीकार करना शुरू कर दिया। यदि देश की हालत यह हो जाए कि घेराव ही उपलब्धि का एकमात्र उपादान रह जाए तो हम प्रजातत्र का सपना भुला देना चाहिए।

आपातकाल की अनेक उपलब्धियो मे प्राय. पूर्ण औद्योगिक शान्ति को महत् उपलब्धि के रूप मे रेखाकित किया गया और यह दावा भी रहा कि इस समय निर्बाध उत्पादन हुआ तथा पहले की सी सख्या मे, श्रम दिवसो की हानि, हडताल या तालेबन्दी के कारण नही हुई। आकडो के अनुसार, १९७४ मे ६ ७२ लाख और १९७५ मे ५ ६ लाख श्रम-दिवसो की हानि के अनुपात म १९७६ के सदर्भ मे एक रोचक तथ्य सामने आता है। इस वर्ष के उत्तरार्ध मे केन्द्र और राज्य दोनो क्षेत्रो मे श्रम-हानि का क्षेत्र मुख्यत. तालेबन्दी के कारण बढा। लेकिन फिर भी यह अपेक्षाकृत 'मौन' के वर्ष रहे।

हडताल, घेराव और तालेबन्दी के फलस्वरूप होने वाली श्रम दिनो की हानि क्रमश: सबसे अधिक पश्चिम बगाल (७ ०७ लाख), तमिलनाडु (० ७६ लाख), केरल (० २० लाख) और महाराष्ट्र (० १७ लाख) मे हुई। औद्योगिक दृष्टि से सर्वाधिक समय की हानि, उत्पादन क्षेत्र मे (६ १४ लाख) हुई फिर

खदान और उत्खनन मे (० २९ लाख), साम्प्रदायिक, सामाजिक और वैयक्तिक सेवा मे (० ०९ लाख) और परिवहन तथा प्रसारण मे (० ०७ लाख)।

जनता सरकार ने श्रमिक वर्ग के मूलभूत अधिकार दिलाने के लिए अपने ढग से काम शुरू किया। सर्वसम्मत-सामजस्य और मतैक्य की त्रिपक्षीय मशीनरी की धूल झाडकर उसे खडा किया गया और यह तय हुआ कि इस कम्प्यूटर की मदद से श्रम-नीति का राष्ट्रीय स्तर पर सामजस्य ढूढा जाएगा। भारतीय राष्ट्रीय मजदूर सघ ने भी एक वक्तव्य मे जोर-शोर से घोषणा की कि जिम्मेदार मजदूर-सघ आन्दोलन गाधीवादी ही है—वह अमानवीय हथियार का प्रयोग विवाद सुलझाने के लिए नही करेगा। भारतीय श्रम-सम्मेलन की ओर से भी अनेक आदर्श प्रस्ताव सामने आए। उनकी भी आवाज यही थी। किसी भी पक्ष की ओर से दबाव और उल्टे सीधे तरीको का प्रयोग नही होना चाहिए। धमकी और अशिष्ट व्यवहार आपसी विश्वास को तोडते है और प्रतिपक्ष को कट्टर प्रतिक्रिया पर उकसाते है।

बातें-बातें बातें—सिद्धान्त ही सिद्धान्त!

इन सबके बीच दिसम्बर, १९७७ मे कानपुर स्वदेशी मिल मे घटित दुर्घटना एक विस्फोट बनकर सामने आ खडी हुई। अलग-अलग पक्षो ने अलग अलग तत्त्वो को जिम्मदार ठहराया। 'स्वाधीन प्रेस' ने अपने-अपने स्वामियो का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने म मनमानी आजादी का इस्तेमाल किया और सामान्य जनता हरे-नीले लाल चश्मो मे इस भयकर अभिनय को देखने पर मजबूर रही। तथ्य इस प्रकार सयोजित किए जा सकते है—वेतन न मिलने से श्रमिको का कष्टजनित आक्रोश, मिल मैनेजर का निर्वस्त्र अवस्था मे दो दिन तक घेराव, राज्य-सरकार की ढुलमुल नीति और वायदो की कच्ची नीव पर टूटती मजदूरो की उम्मीदें।

६ दिसम्बर, ७७ को स्वदेशी मिल म आतक छा गया। कर्मचारियो ने मिल के दो अफसरो का घेराव किया। पुलिस दल आ पहुचा और मिल के अहाते मे जमकर युद्ध हुआ। कर्मचारियो के हथियार थे—इट, लोहे की छडें और पाइप, ऐसिड व आग। और पुलिस आसू-गैस, लाठी-प्रहार से गोली चलाने तक जा पहुची। नौ व्यक्ति मारे गए। मजदूरो ने क्रुद्ध होकर मिल के दो अफसरो की हत्या कर डाली। पुलिस सुपरिंटेंडेंट बुरी तरह घायल हो गया, २३० मिल कामगार गिरफ्तार हो गए और मिल बन्द कर दी गई।

सिद्धान्त हर बार बनाए जाते हैं कि हिंसा न हो, तोड-फोड न हो, लेकिन हिंसा के विस्फोट के कारणो का उन्मूलन करने वाला कोई चाणक्य दिखाई नही देता और स्थिति यथातथ्य बनी हुई है। कोई भी श्रम-सगठन केन्द्र द्वारा प्रस्तुत किसी ऐसी समझौता नीति का समर्थन नही करेगा जो श्रमिको की स्वाधीनता को चोट पहुचाती हो। मजदूरो की सही मागें पूरी कराने मे राज्य-सरकार मध्यस्थता

करे, स्वायत केन्द्र बीच-बचाव करके समझौता करवाए, यह भी मजदूर सघो को मान्य नही। यदि ऐसा सभव होता तो समस्या ही क्या थी ? इस प्रकार की मध्यस्थता मे चोट कौन खाएगा, किसीसे छिपा नही है। ले-देकर श्रमिको के पास एक ही चारा रह गया है कि वे अपनी यूनियन के माध्यम से सीधे मोल-भाव करें। जब दूसरा कोई बस न चले तो हडताल कर दें और वह भी काम न करे तो घेराव से अपनी बात मनवाए। दूसरी ओर सरकार जी-जान से इस कोशिश में है कि हडताल और तालेबन्दी के खिलाफ कानून बन जाए और वर्तमान समझौते और मध्यस्थता, उपायो की जगह स्वतत्र श्रम आयोग स्थापित हो जाए।

अब घेराव केवल मजदूर और मालिक, श्रमिक और धनिक वर्ग के बीच ही नही रह गया है। राजनीति की तरह यह हमारे जीवन की हर रग में प्रवेश कर गया है। आज दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति का घेराव हो रहा है—उनकी मेज पर जूतो सहित लडके चढकर नाच रहे हैं तो कल मगध के उपकुलपति को चार घटे के लिए घेरकर दफ्तर नारो से हिला डाला गया है। शिक्षा का क्षेत्र कभी राजनीति फूहडपन और गुडागर्दी की दलदल से अछूता माना जाता था। आज वही से नये राजनेता 'अमरबेल' की तरह फूट रहे हैं। लगता है, जैसे देश नारो से गूज रहा है और हर व्यक्ति के पास एक ही भाषा है—घेराव की भाषा। एक ही लाठी से सब हाके जा रहे हैं।

संकीर्ण उन्माद की तुरही : शिवसेना

बम्बई, एक सुन्दर, योजनाबद्ध और सार्वभौम नगर है। यहा २२७ भाषाए बोली जाती हैं और अनेक देशी विदेशी, भाई-चारे का दम भर, यहा रहते आए हैं। इसी बम्बई मे कांग्रेस पार्टी ने सन् १८८५ म अपना प्रथम अधिवेशन किया। महात्मा गांधी न बम्बई को अपना राजनीतिक मुख्यालय बनाया और यहा ही १९४२ का ऐतिहासिक प्रस्ताव पास हुआ, 'अग्रेजो, भारत छोडो।' प० नेहरू कहते थे कि 'मैं चौपाटी की रेत मे प्रेम करता हू और दिल्ली सेक्रेटेरियट के अधेरे सम्पर्को मे मेरा दम घुटता है। अरब महासागर की लहरो मे घिरा, मलाबार की पहाडियो से सजा यह शहर वास्तव म विशाल और प्रगामी है। यहा गोपालकृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक, वीर सावरकर और जस्टिस रानाडे के व्यक्तित्व और कृतित्व की मुहर लगी है। महाराष्ट्र के खलिहान, राज्य के ६४ प्रतिशत लोगो को जीविका प्रदान कर रहे हैं। इस जमीन का ५८ प्रतिशत भाग कृषि के काम मे आता है। (सारे देश मे कृषि योग्य जमीन केवल ४४ ५ प्रतिशत है) फलतः इसकी समृद्धि के प्रतीकस्वरूप यहा कपडे की मिलो और कल-कारखानो के अतिरिक्त आयात निर्यात दफ्तर और बडे-बडे प्रकाशको से लेकर फिल्म-ससार की सारी गतिविधिया एकत्र हो गई हैं और ग्रेटर बम्बई का घनत्व २२,३२३ प्रति वर्ग मील से ऊपर आ चुका है।

१९५७ के चुनाव मे महाराष्ट्र कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ। परन्तु ग्रेटर बम्बई के कई भागो मे उसे गहरा धक्का लगा। जब पाच मन्त्री हार गए तो बात एह कहकर आई गई कर दी गई कि विरोधी दल भाषा के प्रश्न को लेकर एक हो ३२ सीटें मिली और उसके ७ उम्मीदवारो की जमानतें जब्त हो गईं। नेहरू ने इस 'भाषाई पलटे के झुकाव' को अस्थायी बताया और कहा कि कांग्रेस इससे डरकर

बम्बई के लिए अपनी दो-भाषाई नीति को नहीं बदलेगी।

१ मई, १९६० को बम्बई राज्य का विभाजन महाराष्ट्र और गुजरात राज्यों में कर दिया गया। मुख्यमन्त्री-पद की शपथ लेने के बाद श्री यशवन्तराय चह्वाण ने कहा कि 'उनकी सरकार सब लोगों के साथ न्याय और एकता का बरताव करेगी। याद रहे कि वे सब पहले भारतीय है, और बाद मे मराठी।' श्री चह्वाण ने यह भी कहा कि 'बम्बई का अतर्राष्ट्रीय रूप कायम रहेगा।' 'जनता की वाणी' नेता बोलता ही रहता है। यह भी है ही कि जब वायदों को आकार देने का समय आता है तो विवशताएं वैत्याक र हो जाती हैं। कुछ ही अरसे बाद चह्वाण के हाथों शिवाजी की प्रतिमा बम्बई मे स्थापित हुई। शायद यही शिवसेना के स्फुरण की भूमिका थी। यों शिवसेना का जन्म होना और पनपना स्वाभाविक ही था, क्योंकि पनपने के लिए जमीन उपजाऊ थी। बम्बई के उद्योग प्रतिसार और सकुचन के शिकजे में कसे थे, भारत-पाकिस्तान युद्ध खत्म ही हुआ था और बहुत-से दफ्तर और फैक्टरियों में छटनी हो रही थी। बम्बई की वामपन्थी पार्टियां मैसूर के साथ सीमा युद्ध में व्यस्त थी, और उनकी नजरें जनमत-सग्रह पर टिकी हुई थी। ऐसा लगता था, जैसे उनकी सारी सिद्धि-सफलता बेलगाव और निप्पानी को अपनी सीमा में खीच लेने में ही केन्द्रित हो।

इस दृश्य पर उभरा एक पत्रकार व व्यग्य चित्रकार बाल ठाकरे, शिवसेना का पिता और सचालक, जिसने सामयिक स्थिति को साम्प्रदायिकता का पुट देकर मराठी भाइयों के दिल-दिमाग को मोहाविष्ट कर लिया। १९६८ मे इस सेना के तीस लाख सिपाही थे और ठाकरे के कथनानुसार सारे महाराष्ट्र मे सेना का जाल फैला था। सेना के हितैषी मुख्यतः मराठा नौजवान थे। कोयना-भूकम्प-पीड़ितो की सहायता के लिए इस सेना ने लाखों की राशि एकत्र की थी। बम्बई नगर निगम चुनाव में सेना ने ५०,००० से अधिक झण्डे दस रुपये प्रति झण्डे की लागत पर तैयार करवाए थे। चुनाव से दो दिन पहले २ लाख लोगों की एक रैली शिवाजी पार्क में हुई, जिसमे करीब २०,००० स्वयसेवक थाना और डोम्बिवली से ट्रकों और रेलगाड़ी से भरकर बम्बई आए थे, जिनके लिए पाच-पाच रुपया पाकेट खर्च की व्यवस्था भी की गई थी। लाखों इश्तहार बांटे गए। बाल ठाकरे के साप्ताहिक पत्र 'मार्मिक' के अतिरिक्त चुनाव के दिनों मे रोज 'सांझ मार्मिक' भी बम्बई निवासियों को पढ़ने को मिला। यह पैसा कहां से आ रहा था? किन दिमागों का करिश्मा थीं ये सारी सेनाएं—शिवसेना, नागसेना, तमिलसेना, हिन्दीसेना, लचितसेना? चीन की लालसेना की तरह भारत मे जगह-जगह उमड आई थे। मजे की बात यह है कि इस शिवसेना के पास कुल जमा पूजी खातों में दर्ज थी—३५०० रुपये।

यह एक अनकहा सत्य है कि अधिकतर निजी सेनाओं की बागडोर किसी-न-

किसी विदेशी सत्ता के हाथ में रहती है यद्यपि हर एक ऐसी सेना नितान्त स्वदेशी और पूर्णतः परम्परा-हितैषी होने का दम भरती है। आज के ससार में तोड-फोड और षड्यत्र तेजी से विश्व कूटनीति का प्रबल हथियार बनते जा रहे हैं। इनका इस्तेमाल लेटिन अमेरिका मध्य-एशिया, अफ्रीका, टर्की और इण्डोनेशिया मे सफलता के साथ हो चुका है। यह स्पष्ट होता जा रहा है कि तोड-फोड और षड्यत्र एक ऐसा सस्ता और कारगर रास्ता है, जिसके जरिये किसी भी देश पर काबू पाने का काम आसान किया जा सकता है। खुलेआम आक्रमण करना बचपना है जिसकी निन्दा गोलमेज के गिर्द बैठकर छोटे-से छोटा मुल्क कर सकता है। आज का युग छिपी मार का है और इसका नुस्खा भी बेहद आसान है। किसी समस्या को लेकर लोगो मे पर्याप्त घृणा जगा दीजिए क्योकि घृणा मे ऐसे गतिशील परिवर्तन की शक्ति है जो उभरती है और विभाजन करती है। इसम यदि जातीयता, प्रादेशिकता या भाषा का सम्मिश्रण कर दिया जाए तो बस दवा सौ पैसे काम कर गई।

भाषा और जातीयता, विभाजन की शक्तिशाली तलवारें थीं ही—अब एक तीसरा हथियार हाथ में है—बेरोजगारी। एक बार इस घृणा की मशीन को चला दीजिए। यह मशीन 'ओवर टाइम' काम करके भी नही थकेगी। विदेशी सहायता कभी लज्जाजनक और हीन लगने लगी थी, अब इस काम के हेतु उसीका स्वागत किया जाना है जैसाकि नागा और मीजो के दृष्टान्तो से स्पष्ट है। आधुनिक भारत के इतिहास म इस विष का प्रयोग दूसरी बार किया जा रहा है। धर्म को लेकर डावाडोल स्थिति और १६४७ मे देश को दो टुकडो मे बाटने का काम अग्रेजो का था। आज ये सेनाए देश को और छोटे-छोटे कबूतरखानो म बाटना चाह रही है। यो भी देश अनगिनत समस्याओं में घिरा है और प्रशासकीय दुर्बलताओ के कारण इन सेनाओ के सम्मुख कटिबद्ध होने को तैयार नही है। ठाकरे ने कट्टर कम्युनिस्ट-विरोधी होने का डका बजाकर बम्बई के पूजीपतियो के दिल भी जीत लिए हैं। सरमायेदार, ठाकरे द्वारा ट्रेड यूनियनो से छुटकारा पाने की उम्मीद करते हैं।

शिवसेना पर तो बस दो धुन सवार हैं—'मराठो को रोजगार दिलाना और कम्युनिस्टो का सफाया।' अगर इन दोनो बातो से सी० आई० ए० (सेंट्रल इटेलिजेंस एजेंसी) सहमत है तो वह उससे रुपय-पैसे की मदद लेने मे नही हिचकेंगे, ठाकरे साहब ने कहा है।

सेना-सदस्य ठाकरे को 'प्रमुख' कहते हैं। उन्हें इस बात से भी कोई आपत्ति नही कि उन्हे डिक्टेटर कहा जाए, क्योकि उनका विश्वास है कि तानाशाही ही अकेला वह रास्ता है जो देश की रक्षा कर सकता है। 'देश को एक हिटलर की आवश्यकता है।' शायद इसीलिए मार्क्सवादियो ने ठाकरे को फासिस्ट करार दिया

है और उधर ठाकरे ने जेहाद बोल ही रखा है, 'कम्युनिस्टो ने हमे परेशान कर दिया है। अगर उन्होने और कुछ बदतमीजी शुरू की तो बम्बई की सडको पर ही उनका सफाया कर दिया जाएगा।' शिवसेना की गतिविधियो पर टिप्पणी करते हुए एक विदेशी पत्रकार ने भारत से लौटने के बाद लिखा कि बम्बई मे 'कू क्लक्स क्लान' ने जन्म ले लिया है।

सेना की गतिविधिया सचमुच अधिकाशतः इसी प्रकार की प्रतिक्रियाओ को जन्म देती हैं। वास्तव मे यह सेना स्वय भी मूलत. प्रतिक्रियात्मक है, चाहे वह उन्मूलनकारी प्रतिक्रिया कम्युनिस्टो के विरुद्ध हो, चाहे दक्षिण भारतीयो के खान-पान, रहन सहन, नौकरी-पेशे और महाराष्ट्र मे उनकी किसी भी प्रकार की पैठ के विरोध मे। प्रतिक्रिया-दर प्रतिक्रिया के स्वाभाविक चक्र म ऐसी ही सेनाओ ने महाराष्ट्रवासियो के विरुद्ध मैसूर, मद्रास और केरल मे जन्म ले लिया है। यह भावना मन्त्री-स्तर पर पहुच गई। मैसूर विधानसभा मे एक मन्त्री महोदय ने कहा कि राज्य सरकार इसका भरसक प्रयत्न करेगी कि मैसूर स्थित केन्द्र-सचालित उद्योगो म सिर्फ स्थानीय लोगो को ही नौकरी मिले। इस प्रकार की सकीर्णताए उन्नति के लिए जूझते हुए देश मे अक्सर जन्म ले लेती है। भारत म भी यह मनोदृष्टि देश की राजनीतिक डावाडोल स्थिति का प्रतिबिम्ब है। श्री वी० पी० नाइक ने मुख्यमन्त्री-पद सभालने के तुरन्त बाद महाराष्ट्र स्थित दक्षिण भारतीय अल्पसख्यको को आश्वासन दिया था कि उनके हक सुरक्षित हैं और कोई खतरा उन्हें छू न सकेगा लेकिन खतरा आया और उन्हे नुक्सान भी पहुचा। असन्तोष फैला और अवमूल्यन तथा बढती हुई कीमतें सुलगती हुई लकडियो को जैसे और कुरेदते रहे है।

सेना के अकुर तो उसी समय फूट चुके थे, जब १५ साल पहले वामपन्थी पार्टियो ने 'भाषा राज्य' आन्दोलन उठाया था। अपनी निष्पत्ति म यह घृणा करो' आन्दोलन था। सम्पूर्ण महाराष्ट्र समिति ने १६५७ म नगर निगम चुनाव इसी नारे के बल पर धमाके के साथ जीते थे। और अब शिवसेना महाराष्ट्रवासियो के हको की अग्रगामी प्रतिनिधि समझी जाने लगी।

जिस दिन बम्बई नगर निगम के चुनाव परिणामो की घोषणा हुई, उसी रात झगडे फसाद भी शुरु हो गए। पुलिस को दो बार गोली चलानी पडी। अगले दिन फिर पुलिस ने गोली चलाई जिसमे मौत के भी समाचार मिले और फिर विधानसभा मे कार्य-स्थगन प्रस्ताव आ गया। मुख्यमन्त्री ने इस सम्बन्ध मे एक आश्वासन दिया जिसे लोगो ने हसकर भुला दिया, क्योकि कुछ सप्ताह पहले ही मुख्यमन्त्री ने कहा था कि मद्रास मे बनी हिन्दी फिल्मे बम्बई के सिनेमाघरो म दिखाई जाएगी। सेना-प्रमुख ने इनका प्रतिवाद किया था और जीत सेना की ही हुई थी।

कृष्ण मेनन और एस० जी० बर्वे की चुनाव-दौड मे मेनन जैसे अनुभवी और

प्रख्यात व्यक्ति को हार खानी पड़ी थी। क्या यह कांग्रेस व सेना के भीतरी समझौते का ही कमाल न था? एक बात यह भी थी कि कांग्रेस का विचार था कि शिवसेना द्वारा उसे उस खिड़की को बन्द करने में मदद मिल रही है जिसमें वामपन्थी 'दूषित' हवा आती है। फलस्वरूप लोकसभा के लिए कांग्रेस के श्री वर्वे विजयी हुए और उसके बाद श्रीमती तारा सप्रे। लेकिन बम्बई नगर चुनाव के बाद विजयी कांग्रेसी का कथन भी काबिलेगौर है: "अच्छा होता अगर मैं हार गया होता। रोज मुझे ढेर से चेतावनी पत्र और धमकी-भरे फोन-काल तो न मिलते।"

शिवसेना ने कहा कि वह मद्रास में बनी हिन्दी फिल्मों को लेकर धरना देगी क्योंकि हिन्दी-विरोधी विद्यार्थी आन्दोलन के बाद मद्रास में बम्बई की हिन्दी फिल्में बन्द कर दी गई थी। एक दक्षिण भारतीय फिल्म प्रोड्यूसर ने फौरन बम्बई का टिकट कटाया और सीधा ठाकरे के पास पहुंचा, जैसेकि वही बम्बई सरकार का वैधानिक प्रतिनिधि हो। इसके बाद उसकी फिल्म बम्बई में दिखाई जाने लगी। यह ठाकरे की महन्ती का जादू था। चह्वाण ने १९६० में ठाकरे के 'मार्मिक साप्ताहिक' का उद्‌घाटन किया था जिसका वामपन्थी पक्ष ने विरोध किया। ठाकरे और उनकी सेना ने इस बात से फायदा उठाया। उन्होंने कहा कि श्री चह्वाण को अ महाराष्ट्रीय बदनाम कर रहे हैं क्योंकि केन्द्र में वे अकेले महाराष्ट्री थे। चह्वाण की तरफदारी करके सेना को एक और लाभ हुआ। चह्वाण का मध्यवर्गीय महाराष्ट्रियों पर अधिक प्रभाव था। इस वर्ग की यही धारणा बनी कि यदि चह्वाण भीतर से सेना के साथ हैं तो सेना अच्छी संस्था है और इसे हमारा सहयोग मिलना चाहिए।

यह सब चल ही रहा था और न जाने कब तक चलता रहता कि देश में राजनीतिक उथल-पुथल ज्वालामुखी की तरह फट पड़ी। इसका असर बम्बई की शांति बिखेर देने वाले प्रतिदिन के 'बन्द' का आह्वान करने वाली, जीवन की गति को अपनी ठोकर में समझने वाली, उद्धत शिवसेना पर कैसे न पड़ता? यों भी अतिवादी मीमा तक खींचने से सुर टूट जाता है, और शिवसेना की केन्द्रीय विचारधारा अतिवाद से परिचालित थी—इससे कोई अपरिचित नहीं। इसके अतिरिक्त शिवसेन के हौंसले भी बुलन्द होते चले जा रहे थे। एक छोटी साम्प्रदायिक पार्टी से वह एक राजनीतिक दल का रूप ले चुकी थी और चुनावों में बढ़ चढ़कर भाग लेने लगी थी। ज्वालामुखी के विस्फोट में जब तमाम राजनीतिक पार्टियां लावे और पत्थरों के नीचे दबने लगी तो ठाकरे ने यही श्रेयस्कर समझा कि उनकी पार्टी इस समय चुपचाप सिर छिपाकर लेट जाए और तूफान के गुजर जाने की इन्तजार करे। कृष्ण देसाई हत्याकांड में शिवसेना की भूमिका के कारण यह स्थिति और भी आवश्यक हो गई। तीसरा कारण था सन् ७० के चुनाव-परिणाम जिसमें शिवसेना की उम्मीदों को गहरा धक्का लगा था।

ठाकरे की यह 'मौन-नीति' रंग लाई। आपातस्थिति की घोषणा के बावजूद शिवसेना प्रतिबन्ध के शिकंजे से बच निकली। ठाकरे को इस छूट से यह कहने का मौका मिल गया कि शिवसेना एक देशभक्त संगठन है जो किसी भी खतरे के समय महाराष्ट्र से पहले राष्ट्र को महत्त्व देता है।'

जनवरी, १९७७ में लोकसभा चुनावों की घोषणा के तुरन्त बाद शिवसेना ने घोषणा की कि वे इस तमाम स्थिति और शांति के बीच तटस्थ रहेंगी। ठाकरे ने इस तटस्थता को परिभाषित करते हुए वयान दिया कि उनका दल कांग्रेस पार्टी का नहीं, व्यक्तिगत रूप से श्रीमती इंदिरा गांधी का समर्थन करेगा।

लेकिन ६ महीने होते न-होते परिस्थितियों के दबाव के साथ साथ ठाकरे को रंग बदलना पड़ गया। १६ जून, १९७७ को शिवसेना भवन के उद्घाटन अवसर पर बाल ठाकरे ने जनता पार्टी के हर रचनात्मक कार्य में सक्रिय सहयोग देने का वादा करते हुए कहा कि सेना अपने इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ना चाहती है और अन्य राजनीतिक दलों से जुड़े अपने कड़वे अतीत को हमेशा के लिए भुलाना चाहती है।

· और फिर एक दिन अखबारों ने सूचना दी कि ठाकरे ने मोरारजी देसाई को मय जनता पार्टी के तानाशाही ताकतों का वाहक ठहराते हुए श्रीमती गांधी के पुनः सत्ता में लौटने की आशा व्यक्त की थी।

इन सब परस्पर विरोधी नीतियों का जो नैसर्गिक परिणाम था, वह निकलकर रहा। शिवसेना में करारी दरार पड़ गई। एक ओर खड़े थे मनोहर जोशी, प्रमोद नवलकर और सुधीर जोशी, जो जनता पार्टी से समझौता करने के समर्थक थे और खाई के दूसरी ओर थे दत्ता साल्वी वमन महादिक, जो ठाकरे की तटस्थतावादी सीमारेखा के भीतर सेना को रखना चाहते थे।

भारतीय राजनीति के आकाश पर विभाजन का मौसम छाया हुआ था। दायें का दायां और दायें का बायां, बायें का बायां और बायें का दायां—दिग्भ्रम का पूरा समां मौजूद है। इसी तरह काले से सफेद के बीच सलेटी रंग के अनेक हल्के-गहरे शेड हैं। शिवसेना इस छूत से कैसे बची रह सकती थी, पहले, विभाजन, खंडित-स्थिति के परिचायक हुआ करते थे किन्तु आज उसका रूप द्रव है। कब कौन-सी धारा कहां मिलेगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। इसीलिए शिवसेना का विभाजन उसके टूटने का संकेत मानकर निश्चिंत नहीं हुआ जा सकता। उसके उत्स की जड़ें साम्प्रदायिक हैं। एक संकीर्ण वर्ग विशेष को लाभ दिलाने के लिए उसने अंगारा सुलगाया है। कोई-न कोई हवा उसे झोंक देती ही रहेगी। ध्वंस से बचना है, तो जरूरी है कि आंखों से दृष्टि संकोची पर्दे उतारे जाएं।

शिवसेना ने अपने अस्तित्व के दौरान, अनेक तरह के असंतोष जाहिर किए हैं। बम्बई के रेडियो स्टेशन से मराठी कार्यक्रम पर्याप्त मात्रा में प्रसारित नहीं

होते, बम्बई विश्वविद्यालय मे मराठी-भाषा-विभाग उपेक्षित है, राज्य में ८५ प्रतिशत मकान गैर-मराठी लोगो के पास हैं, झुग्गियो मे रहने वाले सबसे बडी सख्या म मराठे ही हैं। यदि उसकी सब शिकायतें मान भी ली जाए तो इस समाधान को कैसे स्वीकारा जाए कि बम्बई के लाखों दक्षिण भारतीयो को लुंगीवाला' कह-कर खदेड भगाओ और इतना सताओ कि उन्हे जान-माल का खतरा दिन-रात सालने लगे?

शिवसेना एक साल के आकडे दिखाकर शिकायत करती है कि केवल २२ प्रतिशत रोजगार मराठी लोगो को मिल पाए हैं। तिसपर भी हर रोज ३०० नय परिवारो को रोजगार की तलाश मे बम्बई आने दिया जा रहा है। बात सही होते हुए भी शिकायत गलत है, क्योकि महाराष्ट्र उस विशाल देश का एक हिस्सा है जिसमें बेरोजगारो की सख्या है दो करोड। इसम १० लाख से ज्यादा हाई स्कूल से लेकर एम० ए० तक शिक्षित है। इसी प्रकार इजीनियरो की बेरोजगारी है। कमाऊ नागरिको की स्थिति भी देखने वाली है। लगभग ३१ करोड ग्रामवासी सिर्फ ६८ पैसे प्रतिदिन पाकर काम चलाते हैं और एक करोड को तो केवल २७ पैसे प्रतिदिन ही मिल पाते हैं। रही महाराष्ट्र की बात तो इसपर भी ध्यान देना चाहिए कि लगभग ५२ लाख मराठी महाराष्ट्र के बाहर दूसरे राज्यो में बसे हुए हैं। यदि 'महाराष्ट्र मराठो के लिए' आदोलन सफलता पाता है तो क्या वे सब वहा आराम से रह पाएगे?

प्रधानमंत्री-आवास : लंबा, अनथक प्रयास

दिल्ली मे मकान की समस्या देश की आजादी के साथ जन्मी और साल-दर-साल बडी होती चली गई। बुजुर्ग अर्थशास्त्रियो का मत रहा है कि आय का दस प्रतिशत मकान किराये के रुप मे खर्च करनेवाला परिवार ही सुखी परिवार होता है। लेकिन आज के परिवार को पेंतीस से चालीस प्रतिशत, अपने बजट मे 'सिर पर छत' के लिए निकालना पडता है। रिहायशी इमारतो की समस्या इतनी तीव्र है कि राजधानी मे लगभग सत्तर प्रतिशत परिवार एक कमरे मे रहते हैं। इनमे से चालीस प्रतिशत नई दिल्ली मे और बाकी साठ प्रतिशत पुरानी दिल्ली म बिना किसी रसोई और शौचालय के गुजारा कर रहे हैं। १९६१ की जनगणना के अनुसार १६०,००० घरो की प्रत्यक्ष कमी थी और यह कमी दिल्ली की जनवृद्धि के साथ-साथ और भी बडी है। इसमे भारत-पाकिस्तान सघर्ष का भी हाथ है और बर्मा तथा अफ्रीका से आए निष्कासित भारतीयो का भी।

इस अभाव से हर कोई आक्रात है। कहा जाए कि झल्ली वाले से लेकर प्रधानमत्री तक, तो शायद अत्युक्ति न होगी। यो, दिल्ली मे जगह की कमी मानना तो बचपना होगी। यहा राष्ट्रपति भवन है—३३० कमरा वाला, ३३० एकड जमीन पर फैला हुआ, जिसका प्रसिद्ध मुगल गार्डेन ४४० वर्ग फुट म महकता है। यहा पथरीला विस्तार लिए बुद्ध जयन्ती पार्क है और एशिया का सबसे बडे मच वाला प्रेक्षागृह है —रवीन्द्र रगशाला। कम से कम बीस बडी बडी नई बस्तिया (लगभग ६० अनधिकृत छोटी बस्तिया) ऊचे विशाल भवन, दुहरी चौडी सडकें—सबके लिए जगह निकलती जा रही है। फिर प्रधानमत्री के भवन की समस्या क्यो ?

कुछ अग्रेज-दा कटाक्ष करते हैं कि भई, अग्रेजो के जमाने मे भारत के लिए एक प्रधानमत्री की व्यवस्था होती तो उनके निवास की व्यवस्था भी अग्रेज कर

गया होता। लेकिन हम है कि अपनी और सारी समस्याओं की तरह इसे भी सीने से चिपकाए बैठे हैं खैर, प्रधानमंत्री निवास के लिए दिल में जगह की कभी मानी जा सकती है। हमारे प्रथम प्रधानमंत्री, पंडितजी दिल के राजा कहलाते थे। फिर भी २१ अगस्त, १९६३ को लोकसभा में एक हंगामा खड़ा हो गया, डा० राममनोहर लोहिया ने पूरे एक घंटे तक सदस्यों को हंसाया खिझाया और यह प्रश्न उठाया कि जिस देश में एक ओर सत्ताईस करोड़ लोग तीन आने (१९ पैसे) रोज कमाते है, उसीमें दूसरी ओर सरकार के सबसे बड़े व्यक्ति पर २५,००० से ३०,००० रुपए प्रतिदिन कैसे खरचा जा रहा है? स्पष्ट ही उनका संकेत प्रधानमंत्री नेहरू की ओर था। डा० लोहिया की वक्तृता तमाम मापदंडों से अत्यंत प्रभावशाली थी।

गलत या सही, इस वक्तव्य ने पहली बार जनसाधारण की दृष्टि प्रधानमंत्री-निवास की ओर घुमाई थी। उस दिन से आज तक यह चर्चा किसी न किसी रूप में बदस्तूर बनी हुई है।

१९६४ में नेहरू के निधन के बाद जितनी तेजी से प्रधानमंत्री की खोज प्रारंभ हुई शायद उससे भी ज्यादा तेजी से प्रधानमंत्री आवास की ढूंढ मची। लालबहादुर शास्त्री प्रधानमंत्री निर्वाचित हुए और जब तीनमूर्ति मार्ग पर स्थित प्रधानमंत्री-निवास में उनके आने की चर्चा उठी तो वे ऐसा न कर सके। नेहरू की गरिमा और व्यक्तित्व के आगे वे इतने विनम्र और भावुक थे कि उन्होंने तीनमूर्ति भवन को नेहरू संग्रहालय बनाने की सम्मति दी और स्वयं १०, जनपथ पर रहते रहे। यह भवन प्रधानमंत्री की आवश्यकताओं के लिए इतना कम था कि बराबर की दूसरी कोठी भी ले ली गई और १, मोतीलाल नेहरू मार्ग और १०, जनपथ संयुक्त रूप से प्रधानमंत्री निवास बन गए। दोनों भवनों में कुछ आवश्यक परिवर्तन भी कराए गए जिनके फलस्वरूप नई दिल्ली नगर पालिका ने नोटिस दे दिया कि यह रद्दोबदल गैरकानूनी है।

अभावुक दृष्टिकोण से विचार करने पर, कभी-कभी लगता है कि शास्त्रीजी की विनयशीलता और नेहरू-स्नेह ने ही (जो कि निस्सन्देह अधिकांश भारतीयों की भावनाओं का प्रतिबिम्ब था) एक समस्या खड़ी कर दी है जो आज तक सुलझ नहीं पाई।

दो वर्ष से कम इस कामचलाऊ निवास में रहने के पश्चात् भारत ने शास्त्रीजी को भी खो दिया। अब मौका था कि इसी स्थान को ठीक से निर्मित करके स्थायी प्रधानमंत्री आवास का रूप दे दिया जाता। किन्तु ऐसा हो पाने में भी बाधा आ गई। शांति कार्य के लिए प्रयत्नरत शास्त्रीजी के आकस्मिक निधन के बाद तय किया गया कि उनका निजी कमरा जनता के दर्शनार्थ सदा के लिए उन्मुक्त कर दिया जाए। जनता की इच्छा का सम्मान किया गया और तीसरी

प्रधानमंत्री-आवास : लंबा, अनथक प्रयास

दिल्ली म मकान की समस्या देश की आजादी क साथ जन्मी और साल-दर साल बडी होती चली गई। बुजुर्ग अर्थशास्त्रियो का मत रहा है कि आय का दस प्रतिशत मकान किराये के रूप मे खर्च करने वाला परिवार ही सुखी परिवार होता है। लेकिन आज के परिवार को पैंतीस से चालीस प्रतिशत, अपने बजट मे 'सिर पर छत' के लिए निकालना पडता है। रिहायशी इमारतो की समस्या इतनी तीव्र है कि राजधानी मे लगभग सत्तर प्रतिशत परिवार एक कमरे मे रहते हैं। इनमें से चालीस प्रतिशत नई दिल्ली मे और बाकी साठ प्रतिशत पुरानी दिल्ली मे बिना किसी रसोई और शौचालय के गुजारा कर रहे है। १९६१ की जनगणना के अनुसार १६०,००० घरो की प्रत्यक्ष कमी थी और यह कमी दिल्ली की जनवृद्धि के साथ साथ और भी बडी है। इसम भारत-पाकिस्तान संघर्ष का भी हाथ है और बर्मा तथा अफ्रीका स आए निष्कासित भारतीयो का भी।

इस अभाव से हर कोई आक्रांत है। कहा जाए कि झल्ली वाले से लेकर प्रधानमत्री तक, तो शायद अत्युक्ति न होगी। यो, दिल्ली मे जगह की कमी मानना तो बचपना होगी। यहा राष्ट्रपति भवन है—३३० कमरा वाला, ३३० एकड जमीन पर फैला हुआ, जिसका प्रसिद्ध मुगल गार्डन ४४० वर्ग फुट म महकता है। यहा पथरीला विस्तार लिए बुद्ध जयन्ती पार्क है और एशिया का सबसे बडे मच वाला प्रेक्षागृह है —रवीन्द्र रगशाला। कम से कम बीस बडी बडी नई बस्तिया (लगभग ६० अनधिकृत छोटी बस्तिया) ऊँचे विशाल भवन, दुहरी चौडी सडकें—सबके लिए जगह निकलती जा रही है। फिर प्रधानमत्री के भवन की समस्या क्या?

कुछ अग्रेज-दा कटाक्ष करते हैं कि भई, अग्रेजो के जमाने म भारत के लिए एक प्रधानमत्री की व्यवस्था होती तो उनके निवास की व्यवस्था भी अग्रेज कर

गया होता। लेकिन हम हैं कि अपनी और सारी समस्याओं की तरह इसे भी सीने से चिपकाए बैठे हैं खैर, प्रधानमंत्री निवास के लिए दिल में जगह की कमी मानी जा सकती है। हमारे प्रथम प्रधानमंत्री, पंडितजी 'दिल के राजा' कहलाते थे। फिर भी २१ अगस्त, १९६३ को लोकसभा में एक हंगामा खड़ा हो गया, डा० राममनोहर लोहिया ने पूरे एक घंटे तक सदस्यों को हंसाया-खिझाया और यह प्रश्न उठाया कि जिस देश में एक ओर सत्ताईस करोड़ लोग तीन आने (१९ पैसे) रोज कमाते हैं, उसीमें दूसरी ओर सरकार के सबसे बड़े व्यक्ति पर २५,००० से ३०,००० रुपए प्रतिदिन कैसे खरचा जा रहा है? स्पष्ट ही उनका संकेत प्रधान-मंत्री नेहरू की ओर था। डा० लोहिया की वक्तृता तमाम मापदंडों से अत्यंत प्रभावशाली थी।

गलत या सही इस वक्तव्य ने पहली बार जनसाधारण की दृष्टि प्रधानमंत्री-निवास की ओर घुमाई थी। उस दिन से आज तक यह चर्चा किसी-न-किसी रूप में बदस्तूर बनी हुई है।

१९६४ में नेहरू के निधन के बाद जितनी तेजी से प्रधानमंत्री की खोज प्रारंभ हुई शायद उससे भी ज्यादा तेजी से प्रधानमंत्री आवास की ढूंढ मची। लालबहादुर शास्त्री प्रधानमंत्री निर्वाचित हुए और जब तीनमूर्ति मार्ग पर स्थित प्रधानमंत्री-निवास में उनके आने की चर्चा उठी तो वे ऐसा न कर सके। नेहरू की गरिमा और व्यक्तित्व के आगे वे इतने विनम्र और भावुक थे कि उन्होंने तीनमूर्ति भवन को नेहरू-संग्रहालय बनाने की सम्मति दी और स्वयं १०, जनपथ पर रहते रहे। यह भवन प्रधानमंत्री की आवश्यकताओं के लिए इतना कम था कि बराबर की दूसरी कोठी भी ले ली गई और १ मोतीलाल नेहरू मार्ग और १०, जनपथ संयुक्त रूप से प्रधानमंत्री निवास बन गए। दोनों भवनों में कुछ आवश्यक परिवर्तन भी कराए गए जिनके फलस्वरूप नई दिल्ली नगर पालिका ने नोटिस दे दिया कि यह रद्दोबदल गैरकानूनी है।

अभावुक दृष्टिकोण से विचार करने पर, कभी कभी लगता है कि शास्त्रीजी की विनयशीलता और नेहरू-स्नेह ने ही (जो कि निस्सन्देह अधिकांश भारतीयों की भावनाओं का प्रतिबिम्ब था) एक समस्या खड़ी कर दी है जो आज तक सुलझ नहीं पाई।

दो वर्ष से कम इस कामचलाऊ निवास में रहने के पश्चात् भारत ने शास्त्रीजी को भी खो दिया। अब मौका था कि इसी स्थान का ठीक से निर्मित करके स्थायी प्रधानमंत्री आवास का रूप दे दिया जाता। किन्तु ऐसा हो पाने में भी बाधा आ गई। शांति कार्य के लिए प्रयत्नरत शास्त्रीजी के आकस्मिक निधन के बाद तय किया गया कि उनका निजी कमरा जनता के दर्शनार्थ सदा के लिए उन्मुक्त कर दिया जाए। जनता की इच्छा का सम्मान किया गया और तीसरी

प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के निवास की खोज आरंभ हुई।

इतिहास की सुरक्षा स्मारकों में की जाती है। हर सड़क, चौराहे का नाम, संग्रहालय और प्रसिद्ध भवन, देश की राजनीतिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों की कहानियां होती हैं। दिल्ली में भी यमुना के किनारे राजघाट बना, शांतिवन बोया गया और फिर विजयघाट की स्थापना हुई। स्मारक बनाने के पीछे इतिहास की व्यापक दृष्टि होनी आवश्यक है। यों तो हर व्यक्ति और हर कृत्य अपने क्षण में महत्त्वपूर्ण होता है और प्रगति का पथ बनाता है किन्तु यह समाजशास्त्री का कर्तव्य है कि वह उस सिद्धि के स्थायी स्मृतिचिह्नों का संतुलन बनाए रखे। कहीं ऐसा न हो कि आने वाली पीढ़ियां हमपर दोषारोपण करें कि 'तुम स्मारक ही स्मारक बनाने में लगे रहे। हमारा भविष्य भी तुम्हारे हाथों में था—उसकी ओर तुमने ध्यान ही न दिया।'

श्रीमती गांधी जब प्रधानमंत्री चुनी गईं उस समय वे सूचना तथा प्रसारण पद पर थीं। उनका निवास १, सफदरजंग रोड था जो प्रधानमंत्री-आवास की दृष्टि से नितांत अपर्याप्त था। रहने के कमरे, विदेशी मेहमानों के सत्कार का स्थान, भोजादि देने के लिए बड़े हॉल और सुरक्षा प्रबंध सभी के लिए यहां जगह की कमी थी। फिर भी श्रीमती गांधी ने जहां-के-तहां बने रहना ही अधिक उचित समझा। यह प्रश्न उठाए जाने पर कि वे शास्त्रीजी वाले मकान में क्यों नहीं चली जातीं, तत्कालीन आवासमंत्री श्री मेहरचन्द खन्ना ने एक गोलमोल सा उत्तर दे दिया और कहा कि श्रीमती गांधी एक छोटे बंगले में रहकर एक उदाहरण उपस्थित करना चाहती हैं।

१९६७ की लू भरी मई में निश्चय ले लिया गया कि प्रधानमंत्री उपराष्ट्रपति के ६, मौलाना आजाद रोड पर स्थित बंगले में चली जाएंगी। यह भी निश्चित हुआ कि अब तीनमूर्ति मार्ग वाली कोठी में जाने की बात कभी नहीं उठेगी और यह भी कि अब वे जहां भी रहेंगी, उसे १०, डाउनिंग स्ट्रीट की तरह हमेशा-हमेशा के लिए स्थायी प्रधानमंत्री निवास बना दिया जाएगा। यह भी हो सकता था कि एक नया भवन इस कार्य के लिए निर्मित किया जाए किन्तु भवन निर्माण की बेहिसाब लागत को दृष्टिकोण में रखते हुए एक पुरानी इमारत में ही उलट फेर करवाकर इस काम के लायक बना लेना श्रेयस्कर समझा गया।

तीनमूर्ति भवन यों सब दृष्टिकोणों से प्रधानमंत्री के उपयुक्त था किन्तु जहां उनके सर्वमान्य पिता सत्रह वर्षों तक रह चुके थे, वहां जाकर रहने में श्रीमती गांधी को स्वाभाविक झिझक महसूस हुई। उनसे यह कहा भी गया कि यदि इस भवन को कभी प्रधानमंत्री भवन का रूप देना है तो यह काम केवल वे ही कर सकती हैं। वे ही वहां जाने में हिचक गईं तो कोई भी भावी प्रधानमंत्री उसे अपना न सकेगा।

मई में बड़े जोर-शोर से जो निश्चय लिया गया था, उसके महीने भर बाद ही

मन्त्री महोदय ने लोकसभा में आश्वासन दिया कि 'शीघ्र ही इस समस्या का हल निकल आएगा।'—अर्थात् मई में हल निकला नहीं था। इस बात को लेकर मन्त्री महोदय और विरोधी दलों में बराबर नोक झोक चलती रही। कम्युनिस्ट सदस्य भूपेश गुप्त ने कहा कि "'समाचारपत्रों' से प्रतीत होता है कि प्रधानमन्त्री के निवास की समस्या एक महान् राष्ट्रीय समस्या है। क्या सरकार इस तर्क को सुलझाने में समर्थ नहीं?" मन्त्री जगन्नाथ राव ने ताना कसा, "क्या श्रीमान् सदस्य के पास कोई हल है?" भूपेश गुप्त ने तपाक से उत्तर दिया, "क्यों नहीं? मैं अपना घर इस काम के लिए देने को तैयार हूं।"

इधर शास्त्रीजी वाली कोठी में सुरक्षा मन्त्रालय की ओर से युद्ध-कौशल शिक्षा का एक स्कूल स्थापित किया गया। उसे जल्दी ही घबराकर अपना बिस्तर गोल करना पड़ा, क्योंकि शास्त्रीजी के कमरे में दर्शनार्थ भक्तजनों का ताता लगा रहता था। किसी और मन्त्री अथवा पदाधिकारी की भी हिम्मत वहां आकर रहने की न हुई। आखिर दिसम्बर, ६७ में १०, जनपथ का आधा भाग श्रीमती शास्त्री को रहने के लिए दे दिया गया। इस तरह उस मकान की दो साल से लटकी हुई समस्या सुलझी।

१९६८ में तीनमूर्ति मार्ग की चर्चा फिर से गरमाई। इस बार वह जबानी जमाखाते से हटकर दो लिखित खतों के रूप में उभरी, ये दोनों पत्र तत्कालीन सयुक्त-समाजवादी दल के दो दिग्गजों—मधुलिमये और जार्ज फर्नाण्डीज—द्वारा प्रेषित किए गए। मधुलिमये ने श्रीमती गांधी से पूछा कि "क्या जरूरी है कि भारतीय प्रधानमन्त्री का निवास तीनमूर्ति जैसा वैभवशाली ही हो? जिस देश की प्रति व्यक्ति औसत आय विश्व-भर में सबसे कम हो, क्या वहां सरकारी स्तर पर दिखावा, शानो-शौकत और फिजूलखर्ची का दम नहीं घोट देना चाहिए?"

फर्नाण्डीज ने जोश-भरी धमकी दी कि "जिस तीनमूर्ति में कभी अंग्रेज कमांडर-इन चीफ रहा करता था, उसमें जाने की हिम्मत अगर श्रीमती गांधी ने की तो मुझ जैसे व्यक्ति इसका 'शारीरिक' विरोध करेंगे। वह कोठी पहले ही लाखों रुपये खा चुकी है और लाखों ही रुपये इसे नेहरू-स्मारक बनाने में खप चुके हैं।"

नये साल, १९६९ के साथ एक नये सुझाव के रूप में सामने आई—प्रधानमन्त्री के लिए कुल ३० लाख रुपये से, एक मध्यम-स्तर का भवन बनाने की बात। तीनमूर्ति की बात बार-बार उठी और गिरी लेकिन आखिरकार नेहरू-स्मारक-कमेटी ने यह बिलकुल ही रद्द कर दिया कि इसे प्रधानमन्त्री-भवन बनाया जाए। अब केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल को भी इस ओर से बिलकुल ही ध्यान हटा लेना पड़ा।

सतुलित-बजट के तीस लाख मकान की योजना, जिसे विलिंग्डन क्रिसेंट में बनाने का विचार किया जा रहा था—वास्तव में नेहरू के सामने ही अंकुरित हो चुकी थी। उन्होंने एक बार छोटे मकान में जाने की इच्छा प्रकट की थी और

कहा था कि तीनमूर्ति भवन उनके लिए बहुत बड़ा है। उससमय भी एक इस प्रकार की योजना तैयार की गई थी, किन्तु फिर ऊंची लागत के कारण त्याग देनी पड़ी थी।

१६६६ के आरभ मे पता चला कि प्रधानमत्री के लिए स्थायी स्थान की व्यवस्था स्थायी योजना बनकर सामने प्रस्तुत है। यह भवन राष्ट्रपति एस्टेट मे ही बनाया जाएगा और सभवत मार्च, ७० तक तैयार हो जाएगा। सपूर्ण योजना तीन साल मे कार्यान्वित हो पाएगी। सरकारी प्रवक्ताओ के अनुसार, यह एक सामान्य स्तर का भवन होगा जिसकी लागत वैसे तो तीस लाख से ऊपर बैठेगी लेकिन कुल खर्च-सूची इस प्रकार है : अतिथिगृह, मत्रिमण्डल की बैठको के कमरे, सुरक्षा और निजी कर्मचारियो के लिए स्थान, प्रधानमत्री का सचिवालय—यह सब अठारह लाख मे बनेगा और प्रधानमत्री का व्यक्तिगत निवासस्थान कुल पाच लाख मे तैयार हो जाएगा। प्रधानमत्री सचिवालय के उच्च पदाधिकारियो के मकान की लागत का अदाजा इसके अतिरिक्त होगा। इस निर्णय के लिए बीस हजार वर्ग-फुट जमीन पर अधिकार लिया जाएगा।

तत्कालीन सयुक्त समाजवादी दल ने विरोध का झडा उठाया। मधु लिमये की लगातार रोक-टोक के बीच श्रीमती गाधी ने दोषारोपण का खण्डन किया और कहा कि सयुक्त सोशलिस्ट पार्टी को छोडकर सभी राजनीतिक दल इस बात पर एकमत हैं कि उन्हे एक बेहतर मकान मे चले जाना चाहिए। एक ऐसे मकान मे, जो स्थायी तौर पर प्रधानमत्रियो का निवास बन सके।

विरोध के बावजूद यह समाचार दिल बढाने वाला था और दिल तो, वास्तव मे, इस बात से भी बढा कि आए दिन प्रधानमत्री के लिए नये मकानो की सूची का सिलसिला बद होता दिखाई दिया। यह सिलसिला जिसमे कभी जयपुर हाउस, तो कभी हैदराबाद हाउस या फिर दरभगा हाउसहमारी नजरोके सामन चलचित्र के विविध दृश्यो की तरह घुमाए जाते रहे। देश के प्रधानमत्री का एक गौरव है, उसकी रक्षा होनी चाहिए, यह सही है, किन्तु देश के सामने आर्थिक कठिनाइया हैं—उनसे भी तो इकार नही किया जा सकता।

अफसोस, श्रीमती गाधी के ग्यारह वर्षीय प्रधानमत्रित्वकाल मे, सकटकालीन स्थिति के बावजूद, प्रधानमत्री आवास-सकट दूर न हो पाया।

सादगी का उदाहरण प्रस्तुत करने के दावे के बावजूद श्रीमती गाधी के प्रधान-मत्रीत्व के बाद यह तथ्य प्रकाश म आया कि उनके निवासस्थान पर सिर्फ सुरक्षा सबधी कुछेक उपकरणो पर निम्नलिखित लागत आई थी

दो दरवाजे की चौखट मे जडे धातु-सूचक यत्र	५६,००० रुपये
बिजली-अलार्म प्रणाली	३३१५८ रुपये
हाथ का धातु सूचक (सख्या केवल एक)	८७३ रुपये

अभी प्रधानमंत्री-आवास चक्कर चल ही रहा था कि आकस्मिक रूप से एक नई फुलझड़ी छूटी—राष्ट्रपति रेड्डी मंत्रिमण्डल से परामर्श करने के बाद इस विशाल महलनुमा भवन से बाहर किसी और छोटे स्थान को आबाद करना चाहते हैं।

जैसा पहले भी बताया गया—वर्तमान राष्ट्रपति-भवन ३०० एकड़ में फैली लगभग तीन सौ कमरों वाली भव्य इमारत है। इसके चारों ओर दो सौ एकड़ अतिरिक्त जमीन में महकते-गमकते उद्यान व उपवन हैं। इस लाल-सफेद भवन में एक कोने में कमरों का एक सेट-विशेष है जिसका उपयोग राष्ट्रपति अपने निजी, पारिवारिक आवास के लिए करते हैं। सभा व भोजादि के लिए अलग कमरों के सेट सुरक्षित हैं।

देश के चौथे प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई मानो इस समस्या से बिलकुल ही उदासीन। प्रधानमंत्री बनने के बाद, कुछ अर्से अपने पुराने निवासस्थान ५, ड्यूप्ले रोड पर मस्त रहे। सुनने में आया कि उनका इरादा आवास-परिवर्तन का है ही नहीं। लेकिन एक शाश्वत समस्या यों पलक झपकते हल हो जाए तो भला, बात ही क्या बनी ? फिर वही चक्र चल पड़ा—तीनमूर्ति भवन, नये निवास की निर्माण-योजना, ५, ड्यूप्ले रोड में रद्दो-बदल इत्यादि। और अचानक सारे शोर-शराबे के मुंह पर ताला डालते हुए मोरारजी भाई ने ड्यूप्ले रोड पर ताला लटकाया और 'इन्दिरा बेन' वाले प्रधानमंत्री-आवास में जा विराजे।

इन्दिरा गांधी दुबारा प्रधानमंत्री-पद पर आसीन हुईं तो इन्होंने पाया कि मोरारजी देसाई ने सुन्दर फ्रेंच-गवाक्षों में लोहे के जंगले लगवा दिए हैं और कार्यवाहक प्रधानमंत्री चरणसिंह के आवासकाल में घर में लगे दफ्तर के कमरे भी शयनकक्ष में परिणत हो चुके हैं। श्रीमती गांधी के निजी चित्र-संग्रह को संयोजित करने के लिए दीवारों को नया रंग-रूप और स्वच्छता देने की भी आवश्यकता महसूस की गई। बुद्धिमत्तापूर्वक निर्णय लिया गया कि नितांत आवश्यक परिष्कार व मरम्मत आदि के बाद प्रधानमंत्री, सपरिवार, १, सफदरजंग रोड पर रहें और १, अकबर रोड, पहले ही की तरह, उनके कार्यगत-आतिथ्य, कान्फ्रेंसों व अन्य दफ्तरी काम-काज के लिए नियत कर दिया जाए। फिलहाल, समस्या का समाधान कर दिया गया। सच तो यह है कि समस्या प्रधानमंत्री-आवास की उतनी नहीं, जितनी जनता की संतुष्टि की, क्योंकि जितने मुंह, उतनी बातें।

खण्ड 5



आनुभविक

एक अजनबी बगल की सीट पर सो रहा है—
मेरे मुर्दा होने का अहसास धीरे-धीरे खो रहा है।

आकर्षक व्यक्तित्व : एक मोहपाश

आकर्षण—एक बहुत मोहक शब्द—पूरे संसार का आधार। लेकिन जितना प्यारा उतना ही भ्रामक। किसे कब क्या बांध जाएगा—किसके आकर्षण की डोर मन को कब फूलों की बेड़ियां पहना जाएगी—क्या कहा जा सकता है? इतना जरूर हम जानते हैं कि इस पृथ्वी पर जो हम टिके खड़े हैं— यहां से उड़ नहीं जाते—ब्रह्माण्ड में पागल आंधी की तरह भटककर टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाते—तो यह इस धरती के गुरुत्वाकर्षण के ही कारण। चांद पर यही आकर्षण कम है तभी वहां पर उठाया हुआ एक कदम हमें पृथ्वी पर उठाए हर कदम की अपेक्षा कहीं ज्यादा दूर फेंक देता है।

इस विचार से एक बात तो साफ हुई कि आकर्षण वह—जो ठहराव दे, जो दूर फेंक देने की जगह पास बुला ले। आकर्षण वह शक्ति है, जो भावनाओं की जड़ों को गहरा जमा देती है, जो हमें रस से सींचकर फूलों और फलों का वरदान दे जाती है।

क्या हम नहीं कह सकते कि व्यक्तित्व, वह प्रकाश का बिन्दु है, अग्नि का वह केन्द्र है, जहां से सूरज की सी रंग बिरंगी किरणें फूटती हैं। एक ही व्यक्ति— एक ही प्राण—कभी सन्तान है कभी सहोदर, कभी सखा है, कभी प्रेयस। जिसका व्यक्तित्व जितना विकसित है, जिसके केन्द्र में जितनी तीव्र ज्योति है, वह उतने ही सुन्दर और प्रकाशपूर्ण रूप से जीवन की विभिन्न भूमिकाओं को अदा करने की सामर्थ्य रखता है।

एक बार की बात है, मुझे एक इंटरव्यू बोर्ड में आमंत्रित किया गया। जिन लड़कियों का चुनाव होना था, उनका सुन्दर होना तो जरूरी था ही, साथ ही उनका भाषा-उच्चारण भी महत्त्व रखता था। दो पदों के लिए चुनाव होना था और तमाम विचार-विमर्श के बाद जो चुनाव किए गए, उनमें कुछ अड़चनें पेश आईं।

एक लड़की पद के हिसाब से सारे मानदंडों पर सही उतरती थी लेकिन असमिया होने के कारण उसकी हिन्दी कुछ अपना ही अलग रंग लिए हुए थी। कोई एक शुद्धतावादी हिन्दी-प्रेमी को यह बात नागवार गुजर रही थी, लेकिन मुझे उसके उच्चारण का यही अनूठापन बार-बार आकर्षित कर रहा था। हिन्दी के खड़ेपन में उसने बंगला और असमिया भाषा की गोलाई और चिकनाई मिलाकर उसे मीठा बना दिया था। एक ही गुण मुझे आकर्षित और मेरे सहयोगी को विकर्षित कर रहा था।

कुछ ऐसी ही घटना तब घटी जब अपने एक परिचित बन्धु के अनुरोध पर मैं उनके भाई के लिए एक दुलहन तलाशने किसी के घर जा पहुंची। लड़की दिखाने की परम्परावादी रस्म में मैं मन-ही मन सकुचित हुई बैठी थी कि अचानक जाग उठी। हमारे बन्धु के एक प्रश्न का उत्तर कन्या बड़े सधे शब्दों में दे रही थी, 'मैं अपने माता-पिता की सम्मति का बहुत आदर करती हूं किन्तु इस विषय में अंतिम निर्णय लेने का अधिकार मेरा ही है।" बन्धु को यह स्पष्टोक्ति अच्छी न लगी। बाहर आकर भाई को समझाने लगे कि ऐसी मुंहफट लड़की को हम अपनी बहू नहीं बनाएंगे। किन्तु वहां तो रंग कुछ और ही था। छोटे भाई साहब लड़की की इसी स्पष्टवादिता पर मुग्ध हो गए थे। बोले, "भैया शादी करूंगा तो इसीसे। यह मेरी सच्ची साथिन बनेगी—गले का फंदा बनकर नहीं रह जाएगी।"

रुचियों व विचारों की इस रंगारंगी में आकर्षण व्यक्तित्व किसे कहा जा सकता है—यह बताना क्या आसान है? शायद यह बता पाना अधिक सरल है कि कौन-सी बातें अनाकर्षक होती हैं। संभवतः किसी व्यक्तित्व में एतराज की सबसे बड़ी बात यह हो सकती है कि वह अपनी ही चलाए—उसमें 'अण्डरस्टैंडिंग' न हो। ऐसा व्यक्ति दूसरे की बात समझने की क्षमता नहीं रखता। अपनी दृष्टि के आगे उसे दूसरे का दृष्टिकोण दिखाई ही नहीं देता। ऐसे इन्सान से आकर्षण प्रदान की कोशिश दीवार से सिर मारने जैसी ही सिद्ध होगी। इस दीवार में कोई खिड़की, झरोखा, ऐसा नहीं खुल पाएगा कि दूसरे के विचारों की ताजी हवा अन्दर आ सके। महज दीवारों से घिरकर दम घुटने लगता है। फिर भला वहां आकर्षण की गुंजाइश ही कहां रह जाती है? आकर्षित करने के लिए सहृदयता प्रथम आवश्यकता है।

दूसरा गुण जो व्यक्तित्व को आकर्षक बनाने की जरूरी शर्त है—वह है संयम। जिसने जब्त करना नहीं जाना उसने जीवन के विषय को भीतर की शक्ति से अमृत बनाना भी नहीं जाना। बात कहने में आसान लेकिन करने में बहुत मुश्किल है। लेकिन मन की एक कड़वाहट जबान पर आकर सौ गुनी हो जाया करती है और यह तो है ही पुरानी कहावत कि 'मुंह से निकली बात परायी'।

परेशानियां किसे जिन्दगी में नहीं हैं? कौन है जो फूलों की सेज सो रहा है?

ऐसे मे अपने पैरों के काटे निकाल निकालकर दूसरे के चुभाना कहा की बुद्धिमानी है? जिसने गम पीना सीख लिया, उसने जिन्दगी की लडाई का आधा मैदान फतह कर लिया।

सयम आकर्षक गुण है लेकिन ऐसे व्यक्ति जो न दुलारने से पिघलें और न पत्थर मारने से भडकें—किसीको भी रास नही आते। हुआ करें वे लाख गुणो के भडार। किसीके हाथ मे जब उस भडार पर लगे सयम के ताले की कुजी ही नही तो वह अमूल्य रत्न उसके किस काम के? मन को शाति देने वाला पत्थर भी भगवान हो गया अन्यथा भूखे के हाथ आया हीरा भी काच का टुकडा है। यहा आकर पहले और दूसरे गुण का मेल हो जाता है। दूसरे के दृष्टिकोण को समझकर, सतुलित और मधुर बात कहने वाला व्यक्ति हर स्थिति, हर स्थान पर सुखकारी होता है।

यो तो हर युग के साथ अन्य मूल्यो की तरह आकर्षण के मूल्य भी बदलते रहे हैं। कभी लज्जा से छुईमुई हो जाने वाली नारी आकर्षण का जादू जगाती थी तो आज कधे-से कधा मिलाकर चलने वाली अपने नागपाश मे बाधती है लेकिन एक बात युगो से नही बदली। रहस्यमय व्यक्तित्व मे एक ऐसा सम्मोहन होता है कि अपनी ओर खीचकर रहता है। मानव-स्वभाव ही ऐसा है कि रहस्यो को खोलना उसे बहुत रुचिकर है। समुद्र अथाह है तो वह उसकी गहराई नापे बिना न रहेगा। हिमालय की चोटियो पर कभी मानव के पैर नही पडे तो वह उसके बर्फीले तिलिस्म को तोडकर उसकी छाती पर झडे गाडेगा। इसीलिए जहा उसे पहेली-सा कोई व्यक्तित्व दिखा, वह उसके पर्दे उठाने को मचलने लगा। पहेली सुलझ जाने पर उस आकर्षण का क्या होता है वह अलग बात है किन्तु इस वास्तविकता मे इकार नही किया जा सकता कि जो अज्ञेय है, जो अबूझा, अनजाना, अछूता-सा लगता है वह अपनी ओर अदृश्य डोरियो से खीचता रहता है।

प्रश्न उठता है कि रूप के आकर्षण का व्यक्तित्व मे कितना बडा हाथ है। इसमे शक नही कि सुन्दरता बिना शब्दो के बोलती है और मन को आखों को मुग्ध कर लेती है। किन्तु व्यक्तित्व रूप सौंदर्य से परे की चीज नही? अकसर देखने मे आया है कि जो लोग दिखने मे बहुत साधारण होते हैं या शायद कुरूप भी कहे जा सकते हैं, जैसे जैसे बडे होते हैं अपनी सूरत से बेहतर लगने लगते है। कारण है व्यक्तित्व का विकास। वैसे भी जब हम किसीसे मिलते हैं तो उसके रूप-रग का असर पाच-सात मिनट तक ही रहता है। असलियत वह है जो कि उसके बाद उभरकर आती है। थोडी देर बाद नाक नक्श तो दिखने ही बन्द हो जाते हैं क्योकि आखो को उनकी आदत पड जाती है। बाहरी आखें बन्द होने के साथ साथ भीतर की दृष्टि खुलने लगती है और उसकी पुतली से छन छनकर दूसरे के व्यक्तित्व का उजाला हमारे भीतर उतरने लगता है। उजाला जितना अधिक

होता है, मित्रता की राह भी उतनी ही दूर तक लम्बी दिखाई पड़ने लगती है। यानी परस्पर आकर्षक स्थायी दोस्ती की गलबाही बन जाता है।

वास्तविकता यही है कि आकर्षक व्यक्तित्व गूंगे की जीभ पर गुड़ का स्वाद है जिसे सिर्फ चखा तो जा सकता है—बयान नहीं किया जा सकता। वर्ना क्या वजह है कि इंसान बड़े-बड़े महान विचारकों, महापुरुषों से लेकर कातिल, खूनी और डाकुओं तक के भयंकर आकर्षण से नहीं बच पाता और उनको अपना आदर्श मान एक तपस्वी हो जाता है तो दूसरा आवारा। कुछ ऐसी भी कहानियां अखबारों में पढ़ने को गाहे-बगाहे मिल जाती हैं कि अमुक ने अपने जाल में फंसाकर बीसियों बुद्धिमानों को चकमा दे डाला। दस शहरों में दस विवाह रचाकर मोटा दहेज इकट्ठा कर लिया या भोली सूरत और दिलफरेब अदाओं से दिल ही नहीं, जेब पर भी चाकू चला दिया। इस तरह के सर्पीले, जहरीले आकर्षणों के बारे में तो यही कहा जा सकता है कि हर सिक्के के दो पहलू होते हैं—चित और पट। खरा-खोटा पहचानने की नजर तो इंसान की अपनी ही होती है, उसे उधार नहीं लिया जा सकता।

बातचीत : एक दुधारी तलवार

जाने ऐसा क्यों होता है कि हम जब भी किसी ऐसे व्यक्ति से बात करते हैं जिसपर विशेष अच्छा प्रभाव डालना चाहते हैं—हमारी वाक्पटुता धोखा दे जाती है। पहले से कितने ही कुलावे मिलाते हैं कि यों जवाब देंगे इस तरह एक शब्द के चतुर प्रयोग से चमत्कृत कर देंगे, फलां किस्सा सुनाकर गुदगुदा देंगे, लेकिन असल मौके पर जबान पर ताले पड़ जाते हैं। सारे मजाक भूल जाते हैं और बातों का इस कदर सपाट जवाब मुंह से निकलता है कि खुद पर गुस्सा आने लगता है। बाद में सारे सही जवाब और चुटकुले दिमाग में गुमशुदा बच्चों की तरह पलट-पलटकर लौटने लगते हैं। लेकिन तब तक गोली बंदूक से निकल चुकी होती है। उसे लौटा लाने का कोई उपाय नहीं रह जाता। जिसको प्रभावित करना था, उसपर हमारे नीरस, मटमैले और अतिसाधारण व्यक्तित्व की पोल खुल चुकी होती है।

अभी पिछले दिनों हमारे यहां एक सज्जन आए। द्रविड़—नाक-नक्श, पक्का सांवला रंग और स्थूलकाय—उनके साथ उनकी सुन्दर चंचल पत्नी। हम सभी उनकी पत्नी की ओर मुग्ध-भाव से देख रहे थे और अपने अनचाहे ही, पति-पत्नी की असमानता पर आश्चर्य भी करते जा रहे थे। थोड़ी ही देर में पासा पलट गया। सज्जन विदेश से अभी लौटे थे और बातों-बातों में वहां के आधुनिक संगीतज्ञ, उनके रहन सहन और भारतीय संगीतज्ञों की साधना-पद्धति से वहां की संगीत शिक्षा की सामान्य तुलना करने लगे। पांच मिनट में ही उन्होंने हमें मंत्र-मुग्ध कर लिया। उनकी आवाज की सौम्यता और संतुलन, शब्दों का सतर्क चुनाव, वाक्यों का रोचक गठन और सबसे बड़ी, उनकी बातचीत की सहज प्रसन्न भंगिमा ऐसी थी कि उनकी पत्नी का सौन्दर्य-चमत्कार हम बिलकुल ही भूल बैठे। तीन घंटे के बाद जब वे गए तो घर सूना-सूना लगने लगा। तब जान पड़ा कि इस

व्यक्ति ने संगीत को सही अर्थों में सुना है। संगीत उसकी वाणी और जिह्वा पर आकर बैठ गया है।

इसके विपरीत यह भी होता है कि कुछ लोग अपने पहनावे ओढ़ावे, चपई रंग और मधुर मुस्कान से आपको बांधे रहते हैं लेकिन जैसे ही मुंह खोलते हैं, जी खट्टा हो जाता है। सच तो यह है कि आंखें अगर दिल का आईना है तो बातचीत पूरे व्यक्तित्व का झरोखा है

"दिल के आईने में हैं तस्वीरे यार,
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली।"

इसी तरह अगर कहें कि जबान इंसान की कुंजी है— जहां वह घूमी कि उसके सारे रहस्यों के ताले खुल गए, तो इसमें अत्युक्ति न होगी। वाणी का महत्त्व तो इसीसे पता चल जाता है कि एक ओंकार नाद में पूरा ब्रह्म समाया हुआ है। इसे हमारे पुरखों के पुरखे कहते और मानते आए हैं। जब नाम, रूप, रस और गुण से परे, मात्र नेति-नेति से जाना जाने वाला ईश्वर एक ध्वनि में सिमटकर बंध सकता है तो हमारी-आपकी बिसात ही क्या? हम तो अतिशुद्र केवल मानव है। और वह भी ऐसे, जिन्हें अपनी ही आवाज से प्यार है। खुद को बोलते सुनना कितना अच्छा लगता है। अपनी आवाज से बढ़कर दूसरा कोई जादू नहीं। कुछ कहने को हो न हो, बोलना आए-न-आए दूसरे की बात काटकर अपनी स्वर-सरिता बहाने का लोभ कब कौन संवरण कर पाया है? और कुछ बस न चला, तो गुसलखाना बंद करके पंचम स्वर में अपने ही कान गुंजा डाले।

बातचीत वह शक्ति है जिसका सही इस्तेमाल, स्नेह के दायरे क्षितिज तक खींचकर बढ़ा देता है। लेकिन उसका गलत प्रयोग बूमरैंग की तरह हमें ही चोट दे जाता है। न्यायाधीश का एक हस्ताक्षर किसीको फांसी पर चढ़ा सकता है उसी तरह गलत मौके पर निकली हुई एक गलत बात बहुत प्यारा साथी बिछुड़ा सकती है, पति पत्नी को तलाक के मुकदमों में उलझा सकती है और स्वर्ग-से घर को पानीपत का मैदान बना सकती है। सतसैया की दोहरों की तरह शब्द देखने में छोटा है, लेकिन इसका भाव गंभीर है। इसके बाटर लू में उतरकर बड़े से बड़ा बुद्धिवादी नेपोलियन हारते देखा गया है।

बचपन में मुझे अपनी नानी से एक उपाधि मिली थी—'बातों की रसिया।' मुझे याद है कि बड़ों की बातें सुनने के लिए मैं घंटों सामने स्कूल की किताबें खोलकर दत्तचित्त हो पढ़ने का नाटक किया करती थी। साथ में यह भी कोशिश रहती थी कि किसी तरह सिकुड़-सिकुड़ाकर अदृश्य हो जाऊं कि बड़ों की नजर ही मुझपर न पड़े। क्योंकि जहां वे सचेत हुए, मुझे उस कमरे से भगा दिया जाएगा। फिर वे रसीली बातें, जो मेरे कान भी अपने कान खोलकर सुन रहे हैं छिन जाएंगी। सच ही मैं बातों की रसिया थी। लेकिन क्या दोष मेरा था? दोष क्या

उस अमरसी बातचीत का नही था, जिसमे नानी के रहस्य-भरे सकेत और मौमियो की लच्छेदार शब्दावली रग और खुशबू भर जाया करती थी ? आज सोचती हू कि मास्टरजी का काम न कर पाने पर, डाट मुझे नही, उन्हे पडनी चाहिए थी, कम-से-कम आधी-आधी बटनी तो चाहिए ही थी।

वास्तव मे आज आकर्षक व्यक्तित्व की परिभाषा ही बदल गई है। एक समय था, जब बडी-बडी आखें, सुग्गा-सी नाक और मूगारगी होठ किसी भी लडकी को आकर्षक बनाने के लिए पर्याप्त थे और इसी तरह लंबा-चौडा गठीला शरीर और बढिया नौकरी लडको के लिए सबसे बडे सर्टिफिकेट थे। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और तर्क के युग ने इन तराजुओ को बिलकुल बेमानी करके रख दिया। आज हर लडकी सुन्दर हो सकती है—उसका व्यक्तित्व आकर्षक कहलाएगा, यदि वह अपने शारीरिक गुणो को उभारना जानती है। उन गुणो से हमारा परिचय उसकी बातचीत द्वारा होता है। यदि वह सयत रहते हुए भी उन्मुक्त है, तर्कशील—किन्तु विनम्र बात कहना जानती है, अपने भावो को अभिव्यक्त करने के लिए उसके पास सादी, पर समर्थ भाषा है, दृढता और माधुर्य दोनो का स्वर मे सतुलन है तो उसकी आखें छोटी हो, नाक बडी, रग काला हो और दात ऊबड-खाबड हो—कोई फर्क नही पडता। सब उसका सामीप्य चाहेंगे। उसे मित्रो की कभी कमी न रहेगी, और यदि कोई उसके बारे मे भूल से कह बैठा कि सुन्दर नही है, तो दस आवाजें बेसाख्ता कह उठेंगी—न हो सुन्दर, लेकिन कितनी मोहक है! कितना आकर्षक व्यक्तित्व है उसका! आज केवल शारीरिक सुन्दरता अर्थहीन हो गई है। यदि उसमे आकर्षण नही है तो वह व्यर्थ है। उसका कोई लेनदार नही।

व्यक्तित्व का आकर्षण उत्पन्न करना कोई हसी खेल नही। बातचीत मधुर और आकर्षक तभी बन सकती है जब उसमे सार हो, उसके पीछे बुद्धि की चमक और भावनाओ की गहराई हो। मात्र शब्दो का आडबर रचकर रिझाने का जमाना भी निकल गया। एक समय वह था जब लच्छेदार बातें कहकर किसीको भी आकर्षित किया जा सकता था। ऐसे लोगो की पोल अब जल्द ही खुल जाया करती है। हरेक का कुछ ऐसी हस्तियो से पाला पडा होगा जो बातें बनाने मे माहिर होती हैं। आपको सहायता चाहिए तो ऐसे लोग जबानी-सहायता करने मे लाखो शब्दो का झरना बहा देंगे, लेकिन उगली रत्ती-भर न हिलेगी। 'बातो की खाने वाले' भी इसी श्रेणी मे आते हैं, लेकिन ऐसे लोग आकर्षक व्यक्तित्व वाले नही कहलाएगे। जब आप इनकी असलियत जान लेंगे तो उनसे वितृष्णा हो जाएगी। उनके खोल के नीचे का पोल मन को ग्लानि से भर देगा। अच्छा वही लगता है, जो मीठी बात भी करता है, लेकिन धोखे के जाल मे फसाकर छोड नही जाता।

आकर्षक व्यक्तित्व तो हम उसे ही मानेंगे, जो हर बार मिलने पर कुछ और प्रिय लगने लगे। जो पहली बार चमत्कृत करे और दूसरी बार हल्की सी निराशा

मन मे जगाए, वह गुलदस्ते म सजा एक फूल है जो वहुत जल्दी वासी हो जाएगा, डाल पर महकता गुलाव नही, जिसकी पखुडिया मुरझाकर भी सुगधविहीन नही होती। हम यह भी नही मानते कि सच हमेशा कडवा ही होता है। सद्भावना से वोला गया अप्रिय सत्य भी जीवनदायी हो सकता है और चाटुकारी या गर्जी से कहा गया मीठा झूठ जीवन और सवधो म कडवाहट घोल देता है। हर कोई खूब अच्छी तरह जानता है कि उसके परिवार की खुशहाली, उसके वाक्चातुर्य 'टैक्ट' पर निर्भर करती है। हजारो ऐसी छोटी-छोटी स्थितिया, वातें और घटनाए जो मन को नही भाती, हसकर आदर और सत्कार के साथ वल्कि स्वागत के शब्दो से झेली जाती हैं। ये छोटे छोटे झूठ, ये शब्दो के छोटे-छोटे पुल, सवधो को जोडते हैं, परिवार की नीव को मजबूत करते हैं। कौन नही जानता कि सव कह देना नही चाहिए और यह भी कि जहा जव जो कहना है, उसे स्वर देना जरूरी है। वातचीत का एक महत्त्वपूर्ण महल है—मौन। चुप कव रह जाना है, जिसने यह नही जाना, उसने वातचीत का गुर नही जाना।

सांच को आंच ही आंच

याद आता है, शायद तीसरी या चौथी कक्षा में हमें बताया गया कि निबंध कैसे लिखा जाता है। पहला नियम था कि जिस विषय पर निबंध लिखना है, उसका वर्णन करो—बताओ कि वह क्या है। बात सुनने में बड़ी सीधी लगती है लेकिन है कितनी दार्शनिक, यह मुझे तब पता लगा जब निबंध का विषय दिया गया 'रेडियो' और मैंने पहला वाक्य लिखा—'रेडियो लकड़ी का एक डिब्बा होता है जिसमें से आवाज आती है।' इस वाक्य पर क्लास में मेरी कितनी हंसी उड़ाई गई, उसे सोचकर मन आज भी शर्म से पानी-पानी हो जाता है। तब मेरी नन्ही आत्मा ने बहुत विद्रोह किया था कि मास्टरजी के आदेश पर चलने का यह फल है। किन्तु बहुमत की विजय हुई थी। मैं चुप, और क्लास हंसती रही थी।

आज सच बोलने पर कुछ लिखने बैठते ही वह गुरु-मंत्र याद आ गया। पहली प्रतिक्रिया हुई कि उस शिक्षा से बचो। वह पहले एक बार खाई साबित हो चुकी है। लेकिन खाई फलांगने का दुस्साहस भी तो मनुष्य का जन्मजात स्वभाव है। तो, लीजिए—पहले मैं इसी चक्कर में पड़ूं कि सच क्या है।

कवि की तरह बखानूं तो वह

"सफेद सूरज सच का
बंधता गया
काई का इन्द्रधनुष टूटता गया।"

यानी सच वह सूरज है जो झूठ के सतरंगे भ्रम को तोड़ डालता है।

मनीषियों ने कहा है कि 'सांच को आंच नहीं' और व्यवहार-बुद्धि ने सिखाया है कि 'सत्य सदा कटु होता है'। एक और मुहावरा है कि 'झूठ के पांव नहीं होते' तो दूसरी ओर हिदायत है कि 'अप्रिय सत्य कभी न बोलो'। दर्शन शास्त्र में उलझे, तो पूरी छुट्टी हो गई। रस्सी को सांप समझकर डरने वाला तो झूठ को सच समझ

ही रहा है लेकिन यह जीता-जागता, पाचो इद्रियो, मन और मस्तिष्क के सप्तकोण से समझा-बूझा जाने वाला ससार भी मिथ्या है। यानी सच को झूठ सिद्ध किया जा रहा है। *सत्य की खोज में जैन-दर्शन के तो पास भी न फटकिएगा।* वह आपको अनेकात सिखा देगा—स्याद्वाद की शिक्षा देगा। तब आप कहेंगे—इस अपेक्षा से यह मनुष्य है इस अपेक्षा में यह मेज है, इस अपेक्षा से आप पाठक है। स्याद्वादी तर्क होगा कि जिस समय आप पशु का-सा काम करेंगे, उस समय आप मनुष्य नही, पशु हो जाएगे। इसलिए कहो—किसी कारण विशेष से यह मनुष्य है और किसी कारण विशेष से पशु। मेज को लिखने के काम की जगह लेटने के काम मे ले लिया तो वह दीवान हो गई, अत यह इस अपेक्षा से मेज है, उससे दीवान। भला बताइए—इस तर्क स आप पहुच सकेंगे, 'सच क्या है' के उत्तर तक ?

तो चलिए, 'सच क्या है' को मारिए गोली। सच इतना ही है कि हमारे गुरु-जी की शिक्षा हम फिर दगा दे गई। नाक सीधी न पकडी जाए तो हाथ सिर के पीछे से घुमाकर उसे पकडिए। समस्या को दूसरे सिरे स सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। विचार करें कि हम झूठ क्यो बोलते हैं ? पढने का मन न हो तो बच्चे के पेट मे दर्द हो जाता है। शैतानी करते हुए घुटने फोड लिए तो कह दिया, पन्ना ने धक्का दे दिया था। दोस्तो के साथ गप-शप करते देर हो गई तो—ऑफिस मे काम ज्यादा था। तोड़-फोड़ू बेटे को पिता की आखिरी चेतावनी मिल चुकी है। इस बार जो उसके हाथ स प्याला गिरा तो मा ने कह दिया—मुझसे फूट गया। ऐसे छोटे-मोटे झूठ म असत्य उदाहरण दिए जा सकत हैं।

अब जरा देखें कि इन स्थितियों मे सच बोलत तो क्या होता ? पेट म दर्द का बहाना न होता तो दो घटे गणित मे झख मारनी पडती। दूसरे का नाम न लिया होता तो घुटने तो फूटे थे, मा से दो चपत खानी पडती। ऑफिस का काम न कहा होता तो पति को पत्नी के पूरे मुख को हजार मिन्नता का सेंक देना होता। टूटे प्याले का दोष अपने सिर न लिया होता तो न सिर्फ बच्चे की धुनाई होती—बच्चे को ऐंग्रे ट्रेनिंग दी है—ऐंग्रे निरकुश छोड रखा है, इसपर कम-से-कम पद्रह मिनट पिता की अनचख वार्ता सुननी पडती।

यानी चारों स्थितियो म झूठ बोलकर स्थिति का अप्रिय होने से बचा लिया गया। स्थिति तो कडुवा-करेला थी ही सच बोलना उसपर और नीम चढा देता। निष्कर्ष यह निकला कि दैनिक जीवन की नैया जब सत्य के भवर म फस जाए तो उस झूठ की पतवार स पार लगाना चाहिए।

एक हुए थे सत्यवादी हरिश्चन्द्र। प्रण पूरा करने के लिए उन्हें राजा स चाडाल बनना पडा। पत्नी-बच्चे सहित बिक जाना पडा। दूसरे सत्यवादी थे धर्म-राज युधिष्ठिर। जीवन-भर सत्य-पथ पर चलने के बावजूद द्रोणाचार्य द्वारा पाडवों की सेना का भयकर सहार होने देख उन्हें अर्द्ध सत्य या अर्द्ध असत्य बोलने

पर मजबूर होना पडा। 'अश्वत्थामा मारा गया—नर नही, हाथी' के पीछे छिपे असत्य भाषण की प्रेरणा और प्रभाव से युधिष्ठिर अपरिचित नही थे। तब भी उन्होंने जीवन की गाढी कमाई लुटा दी। तर्क किया जा सकता है कि उन्होंने सत्य वचन का त्याग इसलिए किया ताकि कौरवो के असत्य आचरण पर पाडवो के शाश्वत सत्य की विजय हो सके। लेकिन अत मे सारे तर्क-वितर्क का निचोड यह निकलता है कि बडे सत्य की रक्षा करने के लिए छोटे सत्य को कुर्बान किया जा सकता है। यानी सत्य भी छोटा-बडा होता है, सत्य भी झूठा-सच्चा होता है। अगर मेरी बात मे कुछ ज्यादा ही उलझाव नजर आए तो माफ कीजिएगा, बात यह है कि बात ही जरा पेचीदा है।

मैं फिर कोशिश करू मान लीजिए कि आपके सामने एक खूखार हत्यारा पिस्तौल लिए प्रकट हो जाता है और आपसे पूछता है कि अभी जो आदमी इधर भागता हुआ आया था, वह दायें गया या बाये? आपने एक घबराए हुए आदमी को दायें भागते देखा था। लेकिन क्या आप हत्यारे को सच्ची बात बता देंगे? क्या ऐसे मे सच बोलना निरी अमानवीयता नही होगी? दूसरी ओर यदि पुलिस का आदमी किसी भागते हुए हत्यारे की दिशा आपसे पूछे तो सभवत आपको सच बोलने मे कोई हिचकिचाहट न होगी।

अपने मुटापे के अहसास से पीडित और दुखी व्यक्ति आपको बताता है कि उसने जोर-शोर से वर्जिश शुरू कर रखी है, चीनी छोड दी है खाना कम कर दिया है लेकिन न जाने क्या बात है, वजन घट ही नहीं रहा। ऐसी स्थिति मे शायद ही कोई सगदिल होगा जो फौरन दुखते घाव पर मीठे झूठ का मरहम न लगा दे? "क्या कह रहे हैं, आपने अपना वजन लिया? मेरे खयाल से तो आपने बहुत वेट लूज किया है।" अगर आप यह भी सोचते है कि आप उनके सच्चे दोस्त हैं और असलियत बताना सच्चे दोस्त का धर्म होता है तो भी आप बेबाक सचाई से यह नही कह पाएगे कि "आप ठीक कहते हैं—आप पहले से भी ज्यादा मोटे हो गए हैं।"

इसी तरह असुन्दर को असुन्दर, काले को काला, अव्यवहारी को मूर्ख कहना क्या सच ही, सच कहना है? अकसर ऐसी परिस्थितियो मे मनुष्य दो तरीको से उबरता है। एक तो कुछ बोलते हुए भी कुछ न बोलकर और दूसरे बात टालकर या बदलकर। पिछले दिनो कॉलिज मे कुछ ऐसी ही स्थिति का सामना करना पडा। कुछ विद्यार्थियो ने ट्यूटोरियल लिखकर दिए थे जो मुझसे कही खो गए। बहुत ढूढने पर भी वे मिल नही रहे थे और मेरी यह हिम्मत नही थी कि उन्हे सच बता दू। उन्होंने काम करने में बहुत मेहनत की थी और उन्हे परिणाम जानने की उत्सुकता थी। हर हफ्ते ट्यूटोरियल वाले दिन मेरा दिल धक्-धक् करने लगता कि इस बार क्या कहू। पहले हफ्ते अधिक काम का बहाना बनाया, दूसरे हफ्ते

नया काम करने को दे दिया—इस वादे के साथ कि दोनो काम साथ-साथ लौटा दिए जाएगे। तीसरे हफ्ते पूरा समय नये काम की आलोचना मे निकाल दिया और चौथे हफ्ते उनका सामना करने की हिम्मत न होने के कारण छुट्टी ले डाली। पहली बार सच न बोल पाने के कारण अब सच बोलना और भी कठिन हो गया था। किस मुह से कहू कि आपकी मेहनत मेरी लापरवाही का शिकार हो गई है? महीना बीत चुका था और मेरी भूख-प्यास खो चुकी थी। एक दिन एक दूसरी प्राध्यापिका पास बैठी थी, बोली, "क्या बात है—कुछ परेशान हो?" मुझसे रुका न गया—सारी चिन्ता उनके सामने उडेल दी। वह सुनती रही—मद मुस्कराती रही और मेरी बुद्धि उनकी मुस्कान पर स्वय को कोसती रही कि 'और सच बोल—अब तेरी लापरवाही सारे विभाग का चर्चा बनेगी।' पूरी बात सुन चुकने के बाद वे बोली, मैं तुम्हारे लिए अलादीन का चिराग बन सकती हू। तुम्हारे ट्यूटोरियल मेरे पास आ गए है। मैं खुद महीना-भर से इस उधेडबुन म थी कि ये काम मैंने क्या करा लिया, य कोर्स तो मैं पढाती ही नही।"

यह तो थी एक सच न बोलकर सौ झूठ मोल लेने की बात। लेकिन एक सच बोलकर सौ मुसीबतें मोल लेने के असख्य उदाहरण भी हमे प्रतिदिन मिलते रहत हैं—इसस कोई अक्लमद इनकार नही कर सकता। मुझे याद आता है—एक नाटक, जिसमे एक व्यक्ति को भगवान स्वप्न म आदेश देत है कि अब स तुम्हें सिर्फ सच बोलना होगा। एक भी झूठ बोलोगे तो तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी। उस व्यक्ति के परिवार म जैसे भूचाल आ जाता है। मृत्यु-भय स वह अपनी पत्नी को बता देता है कि वह उसस तग आ चुका है, उसका पकाया खाना उसके गले के नीचे नही उतरता, वह बूढी और बदसूरत लगने लगी है। नतीजा यह कि पत्नी पीहर चली जाती है। वह अपने पिता से उसी प्राण-भय से कहता है कि 'उनका घर की हर बात म टाग अडाना उसे कतई नापसद है। उनके रात भर खासने से वह सो नही पाता, उनके अविवेकीय लाड-प्यार से बच्चे बिगडते जा रहे है।' बूढा बीमार पिता इस सच को झेल नही पाता और उस दिल का दौरा पड जाता है। दफ्तर म अफसर जब उस देर स आने पर भला बुरा कहता है और उसके गुम सुम खडे रहने पर सवाल-जवाब करता है तो मजबूरन उसे सच बोलना पडता है। फिर तो जैस भानमती का पिटारा खुल जाता है। एक के बाद एक सचाई खुलती चली जाती है—'अफसर तो रोज ही देर से आता है, सारा समय अपन दोस्तों से चाय पानी करता रहता है, बीवी से फोन पर बहाने बनाता है और अपने सेक्रेटरी से इश्क फर्माता है…' इस सत्य-भाषण पर उसे नौकरी से बर्खास्त कर दिया जाता है। हमारा सत्यवादी हीरो ईश्वर के आदेश से इतना दुखी है, इतना पीडित है कि वह ऐसे जीवन से मौत पसद करता है और तय करता है कि अब वह एक झूठ बोलकर स्वप्न के आदेशानुसार मर जाएगा। दफ्तर म अपने सबसे पक्के दुश्मन को

खोजकर उससे हाथ मिलाता है और एक कोरा सफेद झूठ बोलता है—'तुम इस पूरे दफ्तर मे सबसे काबिल आदमी हो—तुम्हे मेरा पद मिलना चाहिए इसलिए मैंने तुम्हारे हक मे नौकरी से इस्तीफा दे दिया है।' इस सफेद झूठ के बाद भी जब आकाश से कोई बिजली नही गिरती, शिव का तीसरा नेत्र उसे भस्म नही करता तो उसे निश्चय हो जाता है कि अवश्य ही ईश्वर के वेश मे शैतान ने उसे हमेशा सच बोलने का आदेश दिया था —तभी तो उसकी जिन्दगी यो तबाह हो गई।

हा! यह और बता दू कि उसके अतिम झूठ ने ही उसका साथ दिया। जानी-दुश्मन जिगरी दोस्त बन गया और उसीके प्रयत्नो से उसका जीवन दुबारा बस पाया।

नया काम करने को दे दिया—इस वादे के साथ कि दोना काम साथ साथ लौटा दिए जाएगे। तीसरे हफ्ते पूरा समय नये काम की आलोचना म निकाल दिया और चौथे हफ्ते उनका सामना करने की हिम्मत न होने के कारण छुट्टी ल डाली। पहली बार सच न बोल पाने के कारण अब सच बोलना और भी कठिन हो गया था। किस मुह से कहू कि आपकी मेहनत मेरी लापरवाही का शिकार हो गई है? महीना बीत चुका था और मेरी भूख प्यास खो चुकी थी। एक दिन एक दूसरी प्राध्यापिका पास बैठी थी बोली क्या बात है—कुछ परेशान हो? मुझसे रका न गया—सारी चिता उनके सामने उडल दी। वह सुनती रही—मद मुस्कराती रही और मेरी बुद्धि उनकी मुस्कान पर स्वय को कोसती रही कि और सच बोल—अब तेरी लापरवाही सारे विभाग का चर्चा बनेगी। पूरी बात सुन चुकने के बाद वे बोली मैं तुम्हारे लिए अलादीन का चिराग बन सकती हू। तुम्हारे टयूटोरियल मेरे पास आ गए है। मैं खुद महीना भर स इस उधडबुन मे थी कि ये काम मैने क्या करा लिया य कोस तो मैं पढाती ही नही।

यह तो थी एक सच न बोलकर सौ झूठ मोल लेने की बात। लेकिन एक सच बोलकर सौ मुसीबतें मोल लने के असख्य उदाहरण भी हम प्रतिदिन मिलते रहत हैं—इससे कोई अक्लमद इनकार नही कर सकता। मुझ याद आता है—एक नाटक जिसम एक व्यक्ति को भगवान स्वप्न मे आदेश देते है कि अब से तुम्हे सिर्फ सच बोलना होगा। एक भी झूठ बोलोग तो तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी। उस व्यक्ति के परिवार म जैसे भूचाल आ जाता है। मृत्यु भय स वह अपनी पत्नी को बता देता है कि वह उसस तग आ चुका है उसका पकाया खाना उसक गले के नीचे नही उतरता वह बूढी और बदसूरत लगने लगी है। नतीजा यह कि पत्नी पीहर चली जाती है। वह अपने पिता से उसी प्राण भय से कहता है कि उनका घर की हर बात म टाग अडाना उसे कतई नापसद है। उनके रात भर खासने से वह सो नही पाता उनके अविवेकीय लाड प्यार से बच्चे बिगडते जा रहे है। बूढा बीमार पिता इस सच को झल नही पाता और उसे दिल का दौरा पड जाता है। दफ्तर मे अफसर जब उसे देर से आने पर भला बुरा कहता है और उसक गुम-सुम खड रहने पर सवाल जवाब करता है तो मजबूरन उसे सच बोलना पडता है। फिर तो जैस भानमती का पिटारा खुल जाता है। एक के बाद एक सचाई खुलती चली जाती है—अफसर तो रोज ही देर स आता है सारा समय अपन दोस्तो से चाय पानी करता रहता है बीवी स फोन पर बहाने बनाता है और अपने सक्रेटरी से इश्क फर्माता है इस सत्य भाषण पर उस नौकरी स बर्खास्त कर दिया जाता है। हमारा सत्यवादी हीरो ईश्वर के आदेश म इतना दुखी है इतना पीडित है कि वह ऐसे जीवन से मौत पसद करता है और तय करता है कि अब वह एक झूठ बोलकर स्वप्न के आदेशानुसार मर जाएगा। दफ्तर मे अपन सबसे पक्के दुश्मन को

खोजकर उससे हाथ मिलाता है और एक कोरा सफेद झूठ बोलता है—'तुम इस पूरे दफ्तर में सबसे काबिल आदमी हो—तुम्हें मेरा पद मिलना चाहिए इसलिए मैंने तुम्हारे हक में नौकरी से इस्तीफा दे दिया है।' इस सफेद झूठ के बाद भी जब आकाश में कोई बिजली नहीं गिरती, शिव का तीसरा नेत्र उसे भस्म नहीं करता तो उसे निश्चय हो आता है कि अवश्य ही ईश्वर के वेश में शैतान ने उसे हमेशा सच बोलने का आदेश दिया था —तभी तो उसकी जिन्दगी यों तबाह हो गई।

हां! यह और बता दूं कि उसके अंतिम झूठ ने ही उसका साथ दिया। जानी-दुश्मन जिगरी दोस्त बन गया और उसीके प्रयत्नों से उसका जीवन दुबारा बस पाया।

जाहिर है कि 'हिन्दी न फारसी, लालाजी बनारसी'; या, 'पढ़े फारसी बेचें तेल।' इसी तरह ईसाई धर्म के और अंग्रेजों के प्रभाव में हमने कहना शुरू किया— 'सलीब पे टंगना, दूसरा गाल आगे करना, लाट साहबी दिखाना, विलायती चाल, रंगीन चश्मा' '।'

इन कहावतों में पश्चिमी प्रभाव चिराग लेकर ढूंढने की जरूरत नहीं। वह स्वयंसिद्ध है। लेकिन मजा तब आता है जब कोई लेखक महोदय खुद को अक्ल का पुतला साबित करने के लिए ऐसा भानमती का कुनबा जोड़ते हैं कि सारा गुड़ गोबर हो जाता है। और वे अक्ल के पीछे लाठी लिए दिखाई देते हैं। अभी पिछले दिनों हिन्दी की एक फिल्म-समीक्षा इसका रोचक उदाहरण है। अंग्रेजी में आजकल अकसर विशेषता ध्वनित करने के लिए लिखते हैं— टू सैट दी जमुना ऑन फायर।'

हिन्दी के समीक्षक को मुहावरा भा गया और उन्होंने लिखा—'यह फिल्म यमुना में आग नहीं लगाएगी।' इससे भी हास्यास्पद भूल एक समाचारपत्र में देखने को मिली जहां अंग्रेजी मुहावरे 'ऐट रैंडम' को न समझते हुए किसी उप-सम्पादक ने 'बौम्बिंग ऐट रैंडम' का अनुवाद कर दिया—'रैंडम पर बम-वर्षा।'

हर भाषा की अपनी प्रकृति होती है और उसमें प्रयुक्त की जाने वाली शब्दावली उस देश की सभ्यता का आईना होती है। शायद इसीलिए एक भारतीय जब अपने प्रेमीजन पर प्रेम प्रकट करना चाहता है तो उसके लिए अंग्रेजी का सहारा ढूंढता है। 'मुझे तुमसे प्रेम है' की अपेक्षा 'आई लव यू' कहना कहीं आसान जान पड़ता है। इसके पीछे संभवतः हमारा जातिगत संकोची स्वभाव और अपेक्षाकृत शालीन संस्कृति ही कारण-रूप छिपे हैं। यों भारतीय प्रकृति और संस्कृति के रंग में डूबे सैकड़ों प्यारे-प्यारे मुहावरे हैं—वसन्त जाड़े का अंत, दिन दीवाली हो गए, हाथों के तोते उड़ना, हथेली पर सरसों जमाना, बाग-बाग हो उठना, कहे खेत की सुनें खलिहान की, तीज पड़े खेत में बीज, होली हो जाना। इसी तरह अनेक मुहावरे हैं जो भारतीय पारिवारिक जीवन की झलक दिखलाते हैं। चाचा-भतीजा, मामा-भांजा और जीजा साली के रिश्ते भाषा के मुहावरे ही हो गए हैं। इसी तरह हैं—गरीब की जोरू सबकी भाभी, जान न पहचान बड़ी बुआ सलाम घर वाली से, पूत के पांव, साली आधी घरवाली, सैंया भए कोतवाल अब डर काहे का, सावन में करेला फूला, नानी देख नवासा भूला, सास गई गांव, बहू कहे मैं क्या-क्या खाऊं, सास-बहू की हुई लड़ाई, करे पड़ोसिन हाथापाई, —लेकिन उसी सास के बारे में दामाद का कहना है—'सास बिन कैसी सुसराल, लाभ बिन कैसा माल ?'

ये तो हैं ही शाश्वत मुहावरे लेकिन हमारी आज की जिन्दगी ने भी हमें नई कहावतों का वरदान दिया है। गांधी टोपी हो या सफेदपोशी—इनके खास संदर्भों

मे खास अर्थ हो गए है। अमेरिका का वाटरगेट हर भ्रष्टाचार के पर्दाफाश का सकेत देने लगा है। इसी तरह बन गया—मजबूरी का नाम महात्मा गाधी। काला बाजार और काला धधा तो थे ही, अब विश्व तेल-सकट ने 'काला सोना' भी दे दिया है। जीवन के कितने ही तनाव, शीत-युद्ध से बखूबी ध्वनित किए जा सकते हैं।

मुहावरेदार भाषा अच्छी तो बहुत लगती है—इसका प्रभाव भी पडता है और बहुत बडी बात छोटे-से वाक्याश से ध्वनित करके गागर मे सागर भर जाया करता है लेकिन इसका एक दूसरा पहलू भी है। जो लोग बहुत ज्यादा मुहावरों का प्रयोग करते है—कभी कभी उनकी बातो की ईमानदारी मे सदेह होने लगता है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे बात मे सार कम, लाग-लपेट ज्यादा है और हमे मीठे मोहक शब्दो मे भरमाया जा रहा है। अकसर देखने मे आता है कि शब्दजाल बुनता चला जाता है और उसके चक्रव्यूह मे बुद्धि अभिमन्यु सी फसी रह जाती है। लेकिन मिया की जूती मिया के सिर। यह दोष कैसे ही मेरे सिर मढा जाए। वैसे सारी गलती मेरी है भी नही। दिल्ली शहर मे रहती हू जिसके बारे मे कहावत है कि उर्दू का मुहावरा दिल्ली पर आकर खत्म होता है। मेरी बिसात ही क्या ?

जैसा देश वैसा भेष। सो सारी भूल-चूक माफ और इस मुहावरे के सिर···

"कहानी जैसी झूठी नही
बात जैसी मीठी नही।"

अतिथि-देवता ?

*लम्बी छुट्टिया सामने हैं और परिवार सहित यात्रा पर निकलने का लम्बा-*चौडा कार्यक्रम बना डाला है। पाच हफ्ते की विविधता से भरी यात्रा मे कई जगह जाना है और अनेक का अतिथि बनना है। तैयारी दो महीने पहले से शुरू हो गई और ट्रेन-बस की समय-सारिणी देखकर तिथिया निश्चित कर दी गई। उसके बाद आया सबसे कठिन काम— जिन-जिन महानुभावो के घर धावा बोलने का इरादा है, उन्हे पत्र लिखकर सूचित करना। दिल्ली जैसे शहर मे रहने के बाद खूब समझ मे आ जाता है कि मेहमान के पधारने की सूचना उसी तरह तन मन सिहरा जाती है जैसे मलेरिया बुखार।

यह नही कि आज हम अपनी भारतीय परम्परा को पूर्णत त्याग बैठे है—या यह भूल गए हैं कि हमारे धर्म-ग्रन्थो ने कहा है कि अतिथि देवता होता है। भूल सकते भी कैसे हैं ? जो पौराणिक कहानिया हमने बचपन मे अपनी नानी दादी से सुनी थी, वे आज भी हम अपने बच्चो को सुनाते चले जा रहे हैं। किस प्रकार बहुत-से लोगो को भोजन कराया गया था, कृष्ण ने ही सुदामा का अतिथि-सत्कार करते हुए तीन मुट्ठी चावल के साथ त्रिभुवन का राज्य देने की ठान ली थी। शबरी ने प्रेम-पगे बेर खिलाकर राम का मन स्नेह जीत लिया था। ऐसे और इससे कही बडे-बडे अतिथि-सत्कार की सैकडो कथाओ से हमारा सास्कृतिक गगन जगमगाता है। हम अपने पूर्वजो का अनुसरण करना चाहते भी है। इच्छा होती है कि सब प्रकार की सुख-सुविधा अपने अभ्यागतो को देकर स्वर्ग मे स्थान सुरक्षित नही तो कम-से-कम इस पृथ्वी पर यश तो लूट ही लें। लेकिन सच बात यह है कि जिन्दगी इतनी यात्रिक, खर्चीली और व्यस्त हो गई है कि मेहमाननवाजी के नाम दिल बैठने लगता है।

सचमुच जिन्दगी का रवैया बदल गया है। पति-पत्नी दोनो नौकरी-पेशा

हैं। बच्चे स्कूल जाते है। गृहिणी खाना बनाकर घर मे ताला लगाकर अपनी नौकरी पर चली जाती है—गृहस्वामी अपनी पर। बडी बिटिया कॉलेज से आती है तो पडोसिन से चाबी लेकर घर खोलती है। खाना खाकर, स्कूल से छोटे भाई-बहनों के लौटने का इतजार करती है। अब इस साचे मे वे मेहमान कैसे फिट करेंगे ?

पत्नी नौकरी नही भी करती तो मेहमानो के लिए बाजार से सामान मगाकर पकाने से लेकर उन्हें दिल्ली दर्शन कराने का पूरा जिम्मा कैसे ले सकती है ? और भी हजारो दिक्कतें है। महीने के आखीर म खर्च का अचानक धावा गृहस्वामी के लिए हार्ट-अटैक का बहाना बन जा सकता है। चार व्यक्तियो का काम बढ जाने पर मुश्किल से मिला नौकर (जो नौकरी-पेशा गृहस्थ-दम्पति की पतवार है) उन्हे मझधार मे गोते लगाने छोडकर किनारे निकल जा सकता है। यह भी हो सकता है कि अपने घोसने जैसे घर मे जहा कल तक वे तीन प्राणी सुख से चहकते थे—अचानक आ उतरे मेहमानो की भीड-भाड कलकत्ता के ब्लैक हॉल का आलम तैयार कर दे। गर्ज यह कि एक मर्ज के हजार सिम्प्टम्ज हो सकते हैं।

'जाके पैर न फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई'। सो, अपने कष्टो के आईने मे अपने मेहमान के कष्टो को देखने का फैसला ही श्रेयस्कर है। अग्रेजी मे भी कहावत है कि दूसरो के साथ वही बर्ताव करो जिसकी आशा तुम दूसरो से अपने प्रति रखते हो। अपने खुद के, अपने रिश्तदारो के और अपने मित्रो के अनुभवो मे जो सीखा, उससे एक आचार-सहिता का निर्माण किया गया

"दुनिया ने तजुर्बात ओ-हवादस की शक्ल मे
जो कुछ मुझे दिया है वो लौटा रहा हू मैं।"

दूसरो के घर धावा बोलने से पहले देख लें कि कही य दिन परीक्षाओ के तो नही है—जिसके पास जा रहे है, यदि उनके बच्चो की परीक्षाए चल रही होगी तो वे मिनका अतरग स्वागत करने मे असमर्थ होगे। कही ऐसा तो नही कि उन्होने भी छुट्टियो मे खुद बाहर जाने का प्रोग्राम बना रखा हो, जिसे दूसरो के कार्यक्रम के कारण उन्हे स्थगित करना पड जाए। यह भी हो सकता है कि उन्होने बेहद थक जाने के बाद एक हफ्ते की छुट्टी ली हो चैन से घर मे बैठकर आराम करने के लिए और कोई उनकी शाति भग करने पधार जाए। मतलब यह कि जाने से पहले मेहमान को यह निश्चित कर लेना चाहिए कि उनका मेजबान स्वागत करने की स्थिति मे है भी या नही। बिना सूचना दिए अकस्मात् द्वार खटखटाने वालो से बदतर खुदगर्ज मेहमान दूसरा नही हो सकता।

कही हम ऐसे मेहमान तो नही कि हमारी फरमाइशें हमसे पहले मित्र के दरवाजे पर तशरीफ ले जाने लगती हैं?—'जरा मेरे लौटने का रिजर्वेशन करवा दीजिएगा। फला-फला को खबर कर दीजिएगा कि हम आ रहे है। बहुत बारिशें

अतिथि-देवता ?

लम्बी छुट्टिया सामने हैं और परिवार सहित यात्रा पर निकलने का लम्बा-चौड़ा कार्यक्रम बना डाला है । पाच हफ्ते की विविधता से भरी यात्रा मे कई जगह जाना है और अनेक का अतिथि बनना है । तैयारी दो महीने पहले से शुरू हो गई और ट्रेन-बस की समय-सारिणी देखकर तिथिया निश्चित कर दी गईं । उसके बाद आया सबसे कठिन काम—जिन जिन महानुभावो के घर धावा बोलने का इरादा है उन्हे पत्र लिखकर सूचित करना । दिल्ली जैसे शहर मे रहने के बाद खूब समझ म आ जाता है कि मेहमान के पधारने की सूचना उसी तरह तन-मन सिहरा जाती है जैसे मलेरिया बुखार ।

यह नही कि आज हम अपनी भारतीय परम्परा को पूर्णत त्याग बैठे है—या यह भूल गए हैं कि हमारे धर्म-ग्रन्थो ने कहा है कि अतिथि देवता होता है । भूल सकते भी कैसे हैं ? जो पौराणिक कहानिया हमने बचपन म अपनी नानी दादी से सुनी थी, वे आज भी हम अपने बच्चों को सुनाते चले जा रहे हैं । किस प्रकार बहुत-से लोगो को भोजन कराया गया था, कृष्ण ने ही सुदामा का अतिथि सत्कार करते हुए तीन मुट्ठी चावल के साथ त्रिभुवन का राज्य देने की ठान ली थी । शबरी ने प्रेम पगे बेर खिलाकर राम का मन स्नेह जीत लिया था । ऐसे और इससे कही बडे-बडे अतिथि सत्कार की सैकडा कथाओ से हमारा सास्कृतिक गगन जगमगाता है । हम अपने पूर्वजो का अनुसरण करना चाहते भी है । इच्छा होती है कि सब प्रकार की सुख-सुविधा अपने अभ्यागतो को देकर स्वग म स्थान सुरक्षित नही तो कम-से-कम इस पृथ्वी पर यश तो लूट ही लें । लेकिन सच बात यह है कि जिन्दगी इतनी यात्रिक, खर्चीली और व्यस्त हो गई है कि मेहमाननवाजी के नाम दिल बैठने लगता है ।

सचमुच जिन्दगी का रवैया बदल गया है। पति-पत्नी दोनो नौकरी-पेशा

। बच्चे स्कूल जाते है। गृहिणी खाना बनाकर घर मे ताला लगाकर अपनी नौकरी पर चली जाती है—गृहस्वामी अपनी पर। बडी बिटिया कॉलेज से आती है तो पडोसिन से चाबी लेकर घर खोलती है। खाना खाकर, स्कूल से छोटे भाई बहनो के लौटने का इतजार करती है। अब इस साचे मे वे मेहमान कैसे फिट करेंगे ?

पत्नी नौकरी नही भी करती तो मेहमानो के लिए बाजार से सामान मगाकर खाने से लेकर उन्हे दिल्ली-दर्शन कराने का पूरा जिम्मा कैसे ले सकती है ? और भी हजारो दिक्कतें हैं। महीने के आखीर मे खर्च का अचानक धावा गृहस्वामी के लिए हार्ट-अटैक का बहाना बन जा सकता है। चार व्यक्तियो का काम बढ जाने पर मुश्किल से मिला नौकर(जो नौकरी पेशा गृहस्थ-दम्पति की पतवार है) उन्हे मझधार मे गोते लगाने छोडकर किनारे निकल जा सकता है। यह भी हो सकता है कि अपने घोसले जैसे घर म जहा कल तक वे तीन प्राणी सुख से चहकते थे—अचानक आ उतरे मेहमानो की भीड-भाड कलकत्ता के ब्लैक हॉल का आलम तैयार कर दे। गर्ज यह कि एक मर्ज के हजार सिम्प्टम्ज हो सकते है।

जाके पैर न फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई'। सो, अपने कष्टो के आईने म अपने मेहमान के कष्टो को देखने का फैसला ही श्रेयस्कर है। अंग्रेजी म भी कहावत है कि दूसरो के साथ वही बर्ताव करो जिसकी आशा तुम दूसरो स अपने प्रति रखते हो। अपने खुद के, अपने रिश्तेदारा के और अपने मित्रो के अनुभवो स जो सीखा, उससे एक आचार-सहिता का निर्माण किया गया

'दुनिया ने तजुर्बात ओ-हवादस की शक्ल म
जो कुछ मुझे दिया है वो लौटा रहा हू मैं।" •

दूसरो के घर धावा बोलने से पहले देख लें कि कही ये दिन परीक्षाओं के तो नही हैं—जिसके पास जा रहे हैं, यदि उनके बच्चो की परीक्षाए चल रही होगी तो वे मित्र का अतरग स्वागत करने मे असमर्थ होगे। कही ऐसा तो नही कि उन्होने भी छुट्टियो मे खुद बाहर जाने का प्रोग्राम बना रखा हो, जिसे दूसरो के कार्यक्रम के कारण उन्हे स्थगित करना पड जाए। यह भी हो सकता है कि उन्होने बेहद थक जाने के बाद एक हफ्ते की छुट्टी ली हो चैन से घर म बैठकर आराम करने के लिए और कोई उनकी शाति भग करने पधार जाए। मतलब यह कि जाने से पहले मेहमान को यह निश्चित कर लेना चाहिए कि उनका मेजबान स्वागत करने की स्थिति म है भी या नही। बिना सूचना दिए अकस्मात् द्वार खटखटाने वालो स बढकर खुदगर्ज मेहमान दूसरा नही हो सकता।

कही हम ऐसे मेहमान तो नही कि हमारी फरमाइशें हमसे पहले मित्र के दरवाजे पर तशरीफ ले जाने लगती हैं?—'जरा मेरे लौटने का रिजर्वेशन करवा दीजिएगा। फला-फला को खबर कर दीजिएगा कि हम आ रहे हैं। बहुत बारिशें

तो नही होगी ?'' अब ऐसे प्रश्नो का उत्तर भला आप क्या मौसम विभाग से पूछकर लिखेंगे ? या यह जवाब देंगे कि 'बारिश और धूप तो बादशाहो के हाथ मे भी नही है, मैं तो एक अदना सा दोपाया नागरिक हू।' कमाल तो तब हो गया जब एक साहब ने जाने से पहले पूछ भेजा— चिड़ियाघर और अजायबघर के खुलने-बन्द होने का समय मालूम करके रखिएगा, क्योकि बच्चे सफेद शेर देखना चाहते हैं और श्रीमतीजी पत्थर के पुराने बुत।'

एक पुराना प्यारा सा भारतीय रिवाज है कि जब कोई कही जाता है तो खाली हाथ नही जाता। बच्चो के लिए उपहार और फल-मिठाई साथ मे ले जाता है। लेकिन कोई साहब कलकत्ते से दिल्ली किसी के घर आए और बगाली रसगुल्लो की जगह दिल्ली ही मे खरीदकर दालबीजी पहुचा दें तो इस उपहार म स्नेह नही, सिर्फ रीत का रायता दिखाई देगा। याद आता है कि एक बार एक मित्र आए तो उनके साथ दो अजीबोगरीब चीजें थी। दस किलो का तरबूजा और एक शेर के मुह की सुराही। बोले—इस बार अपने खेत मे शर्बत जैसे मीठे तरबूजे उतरे हैं और हमारे यहा की काली मिट्टी पानी को इतना ठण्डा रखती है कि आप फ्रिज भूल जाएगे। उनका स्नेह देखकर मन गद्गद हो गया। कितनी परेशानी पड़ी होगी उन्हें इस लुढकते विशालकाय फल और नाजुक सुराही को यहा तक सुरक्षित पहुचाने मे ? इस सहृदयतापूर्ण उपहार के सामने मिठाइयो की भरी दुकान भी फीकी पड़ जाए। इसके विरीत महगे महगे उपहारो मे न सिर्फ दिखाने की गध है, यह न्यौता भी छिपा है देखिए हमने आपपर कितना खर्च कर दिया— आप भी हमपर खर्च कीजिए। या यह भाव कि हमने आपकी मेहमाननवाजी की कीमत पहले ही चुका दी।

अगर आप अच्छे मेहमान हैं तो अपने मेजबान को स्टेशन या हवाई अड्डे पर 'रिसीव' करने की परेशानी दिए बिना ही टैक्सी लेकर उनके घर पहुच जाएगे। आप उनसे यह उम्मीद नही रखेंगे कि उनकी अपनी सवारी हर पल आपकी खिद-मत मे मौजूद रहे। उनके यहा रहने का यह भी मतलब नही कि आपके टेलीफोन का बिल तिगुना हो जाए। आप इसकी भी सावधानी बरतेंगे कि आप खुद मेहमान है आपके मेहमानो का बोझ भी कही उन्हीके कधो पर न आ पड़े। अपने मिलने जुलने वालो को आप बाहर किसी रेस्तरा मे चाय पर बुला सकते हैं। दो एक बार अपने मेजबानो को अपना मेहमान बनाकर बाहर खाना खिलाना सिनेमा या नाटक दिखाने ले जाना उन्हें राहत और सुख पहुचा सकता है। लेकिन खुदा के वास्ते उन्हे उन्हीके शहर के दर्शनीय स्थान दिखाने, साथ घसीटते न घूमिए। वे पर्यटक-विभाग के वाहन नही—आपके मित्र हैं।

अक्सर बेतकल्लुफी के नाम पर मेहमान ज्यादतिया कर जाते है। उन्हे न दूसरे के आराम का ध्यान रहता है और न दूसरे के निजी जीवन और एकात का

होश। जब देखिए,हर कमरे मे टहलते चले आ रहे है। तरह-तरह की हिदायतें—'नमक कम डालिए भाभी', 'बहनजी, गुसलखाने मे तौलिये नही हैं', 'भाई साहब हमारी चिट्ठिए टिकट लगवाकर डलवा दीजिए', 'एक सिर-दर्द की गोली तो दीजिएगा आंटीजी!' इन मामूली अनवरत फर्माइशो से लेकर पुत्र के दाखिले की सिफारिश तक मेजबान के जिम्मे आ सकती है। नतीजा यह होता है कि मेहमान चला जाता है। अपने पीछे अपने आधे अटके कामो का द्रौपदी-चीर छोड जाता है। छोडने की बात से ध्यान आया कि कृपया जब किसी दूसरे के घर में रहे—अपने कामो को समेटकर रखें और जब जाने लगें तो अपना सारा सामान सहेजकर अपने साथ ले जाए। वर्ना आप चले जाएगे—बच्चे का नाइट-सूट खूटी पर टगा रह जाएगा, किसीकी चप्पल बरामदे मे पडी रह जाएगी तो किसीका चश्मा रेडियो पर रखा रह जाएगा। आपकी परेशानी से कही ज्यादा परेशानी उसकी है जो आपकी इन चीजो को सभालकर रखे हुए है और किसी आने-जाने वाले की तलाश मे है कि आपकी चीजें आप तक पहुचाई जा सकें। हद हो गई तब जब एक सज्जन ने पत्र लिखा—'मैंने दो अखबार ट्रेन मे खरीदे थे, उन्हे मैं पढ नही पाया। वे आपके यहा छूट गए हैं। कृपया बुक-पोस्ट से भिजवा दें।'

अगर आप जाडो मे अपने मेजबान के यहा बिस्तर-बिस्तर परिवारसहित पहुच गए हैं तो वह आपको कभी माफ नही करेगा। इसी तरह गर्मियो म दिल्ली मे आकर हर समय गर्मी-गर्मी चिल्लाना और अपने शहर भोपाल, इन्दौर की प्यारी ठण्डी रातों को याद करते रहना कहा की शराफत है? शहर का तापमान आपके मेजबान के हाथ मे नही है। यह उसकी शराफत है कि वह, आपके कष्ट को समझ रहा है और माफ यह नही कहता कि आपको भोपाल से मैंने नही बुलाया। आप अपनी मर्जी मे आए है। इसी तरह चलते-चलते यदि आपने यह कह दिया—'बाहर निकलकर गडबड हो ही जाती है। अब मुन्ने का पेट जरूर खराब हो जाएगा।' तो समझ लीजिए कि दूसरे के सारे किए कराए पर तो आपने पानी फेर ही दिया, अपनी असभ्यता का झण्डा भी मित्रता मे हमेशा के लिए पडी दरार म गाड दिया।

जिन्दगी के सारे पहलुओ की तरह यहा भी बिना सतुलन काम नही चल सकता। बेतकल्लुफ मेहमान सिरदर्द हो जा सकता है तो घर को होटल समझने वाले पूर्ण तटस्थ मेहमान के प्रति भी किसीका मन नही उमगता। नाश्ता खाकर निकलना, दिन भर मीटिंग मे व्यस्त रहना, शाम दोस्तो के साथ गुजारकर रात को खाने की मेज पर पहुचना और खाना खत्म होते ही थके होने के कारण सो जाना। फिर अगले दिन वही दिनचर्या। आपने अपने मेजबान को यो रुटीन मे दाब दिया मानो वह आपका कर्जदार है। न आप उसके बच्चो से बोले, न उसमे हस मिलकर बैठे। आप जब गए तो बस एक ऊब-भरी याद पीछे छोड गए।

आत्मीयता और तटस्थता का सगमित सन्तुलन तभी आ सकता है जब पूरा

व्यक्तित्व सजग और उदार है। जब अपने और दूसरे के लिए दो भिन्न तरह के मानदंड नहीं बने हुए है। जब एक मे दूसरे को यह विश्वास दिला सकने की शक्ति है कि वह उसे अपना समझता है तभी उसके यहाँ आया है। दाल, रोटी और एक तरकारी अपने मित्र के साथ बैठकर खाना उसके लिए सचमुच सौभाग्य व प्रीति की बात है। अतिथि-रूप में हम देवता हैं या दानव, इसकी एकमात्र कसौटी यह है कि हमारा मेजबान अनुरोध और आग्रह से हमे दुबारा अपने घर आमंत्रित करता है या नहीं।

पुष्पामृत

ऊंच नीच और आंधी तूफान से भरे इस स्याह सफेद जीवन म भी ऐसा कौन अभागा होगा जो दो वस्तुओ को देखकर, कम-से-कम दो पल मुग्ध न रह जाता हो ? वे दो वस्तुए विष के कटोरे मे अलग तैरती अमृत की दो बूदें हैं—फूल और शिशु। फूल की मुस्कान और शिशु की किलकारी तपते हृदय पर वर्षा की फुहार-सी पडते हैं और मन से खुशी की सोंधी खुशबू उठने लगती है :

"बचपन म एक गीत सीखा था,
कविवर सुमित्रानन्दन पन्त का रचा हुआ—
लाई हू फूलो का हास, लोगी मोल
लोगी मोल ?"

और अब यही गीत मेरी बेटिया सीखती है। देखती हू—मेरे बचपन की तरह ही वे भी यह गीत सुनकर खुशी स चमक उठती है। उनकी आखो मे भी रग-बिरगे सपने उग आते हैं। क्या है ऐसा इन फूलो म ? क्यो इस तरह मन को बाध लेते हैं ये ? किया भी क्या जाए ? जिस दिन स इसान जन्मा—इन फूलो की तरह जिया। इन्हीं की तरह धरती स उगा, यहीं से रस खीचा, जाडे मे सिहरकर कापा और सूरज की चमकीली आखो म रूप-रग अपने अन्दर उडेला। फूल—दुनिया के फलो का वरदान देकर झर गया और मनुष्य नई पीढी तैयार करके जन्मदात्री मिट्टी मे एकाकार हो गया। तब क्या ताज्जुब कि आशीर्वाद का सबसे सहज वचन है—'खुश रहो, फूलो-फलो।'

जन्म देने और सुलाने वाली यह मिट्टी भी कहा की ? भारत की। बेहद उपजाऊ। छ ऋतुओ को गोद मे लेकर झुलाने वाली। इस धरती का रोआ-रोआ घास की तरह लहराता है। इसके आगन को सैकडो छोटी-बडी नदिया सीचती रहती हैं। यहा नैनो म इन्द्रधनुष उगते हैं। बर्फीले उत्तर से तरल दक्षिण तक ऐसी

विविध जलवायु यहां पाई जाती है कि ठंडे प्रदेशों की केसर और नरगिस, नम जंगलों के चितकबरे ऑर्किड, और रेगिस्तानी नागफनियों के छोटे-बड़े लाखों फूल भारत में उगते हैं। फिर भला फूल भारतीय संस्कृति से अलग कैसे रह सकते हैं?

फूलों की बात तो मनुष्य की उत्पत्ति से क्या, वास्तव में सृष्टि की उत्पत्ति से आरंभ हो जाती है। सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्मा से है और ब्रह्मा की उत्पत्ति कमल से मानी जाती है। सृष्टि के आरंभ को ही एक दूसरे कोण से देखें तो पाएंगे कि जीवन का जन्म प्रणय से जुड़ा है और प्रेम जागता है कामदेव के पांच तीरों से। पांच फूलों से बने पांच तीर। कथा है कि कामदेव ने शिव पर अपना मदन-बाण चलाया। शिव ने क्रोध में आकर काम को भस्म कर दिया और उसका धनुष पांच टुकड़े होकर धरती पर आ गिरा। हर टुकड़े से एक फूल उगा और इस तरह पांच मनोहारी मन्मथ फूल पृथ्वी में जन्मे—चम्पा, मौलसिरी, गुलाब, चमेली और बेला। वामन-पुराण के रचयिता ने जिस भी भावना से प्रेरित होकर यह कथा रची हो—हममें से जिस जिसने इन फूलों की सुगन्धि को जाना है—गर्मी की सुबह में उजले मोतिया की सुन्दरता को आंखों में भरा है—मौलसिरी के नन्हे-नन्हे फूल धरती पर तारों-से बिछे हुए देखे हैं, वह इस बात का गवाह है कि वे छोटे-छोटे तीर बड़ी गहरी मार करते हैं। मन व्याकुल हो उठता है और पांचों इन्द्रियां इस तरह सचेत हो जाती हैं, जैसे झरने के नीचे नहाने से रोमावलि पुलकित हो उठती है।

'पुलकित हो उठती है। फूलों के बिना तो हमारी भाषा ही अधूरी है। खुश हुए तो मन फूल उठा। उदास हुआ तो मन मुरझा गया। कभी मन में प्रेम का अंकुर फूटा तो कभी प्यार की खुशबू छिपाए न छिपी। मुहावरे लोक-जीवन का दर्पण होते हैं। राजा हो या भिखारी, अपनी कहानी को सभी मुहावरों से रेखांकित किया करते हैं। तुलसी के लक्ष्मण परशुराम पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं—'इहां कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं, जो तर्जनी देखि मर जाहीं।'

अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए भी उंगली दिखाने से मुरझा जाने वाले लौकी, कद्दू के फूल की चर्चा। क्रोध में मुख गुड़हल के फूल-सा लाल हो जाता है। लज्जा से गुलाब, भय से सरसों या केतकी-सा पीला। वेदना में भोर की कुमुदिनी-सा म्लान और प्रसन्न हो जाने पर तो पूरा अस्तित्व ही बाग-बाग हो उठता है।

ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई, प्रेम मन में जागा और अब कमल पर आ विराजीं सरस्वती—मनुष्य को ज्ञान देने के लिए। सभ्यता की बगिया महकने लगी। शिव ने सर्पों के साथ धतूरे और मन्दार के फूलों की मालाएं भी धारण कीं। विष्णु न केवल कमलासन पर विराजे, उनके हाथों में शंख, चक्र, गदा के साथ पद्म ने भी स्थान पाया। वे शेष शैया पर सोए और उनकी नाभि से निकले कमल पर विराजे—

ब्रह्मा। कृष्ण ने कदम्ब के फूले हुए वृक्षों के नीचे रास रचाया। राम ने रावण को जीतने के लिए शक्ति की पूजा की और अंतिम दिन पूजा का कमल न मिलने पर अपनी कमल जैसी सुन्दर आंख शक्ति के चरणों में चढ़ाने को तैयार हो गए। देवताओं और दानवों ने सागर मंथन किया तो अन्य वस्तुओं के साथ सब प्रकार के फूलों और फलों से लदा कल्पवृक्ष भी निकला। बुद्ध हों या महावीर—उनके जन्म के सूचक स्वप्न उनकी माताओं को आते हैं तो उनमें फूले हुए वृक्ष, मालाएं और कमलों का विशेष स्थान है। बुद्ध का एक अवतार है—पद्मपाणि।

भारतीय जीवन में कमल को बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त है। आज अक्सर हमें कमल नहीं, तालाबों में खिली कुईं ही दिखाई देती है जो सिंघाड़े के फूलों को गलबाहीं डाले खिली रहती है। लेकिन प्राचीन साहित्य, वास्तुकला, चित्र और योगदर्शन इसके साक्षी हैं कि किसी समय कमल का फूल जीवन के बहुत समीप था। कमल को जीवन का प्रतीक माना गया है। स्थिर चित्त होने के लिए योगी पद्मासन लगाकर बैठता है। हठ योग के अनुसार, शरीर में षट्चक्रों की कल्पना की गई है। प्रत्येक चक्र को कमल के साथ मिलाया गया है। मस्तक में सहस्र-दल कमल की कल्पना है, जहां अमृत और मोक्ष का पराग है। गीता का आदेश है—'पद्मपत्रमिवाम्भसा।' व्यक्ति इस जीवन में पानी में कमल पत्र की तरह रहे। मनुष्य के विभिन्न अंगों की तुलना कमल से करने में तो विनयपत्रिका के पद का सानी ही ढूंढ़ना कठिन है

'श्री रामचन्द्र कृपालु भज मन, हरण भव-भय दारुणम्।
नव-कंज-लोचन, कंज-मुख, कर-कंज पद-कंजारुणम्॥"

किसी भी देश की संस्कृति को समझने के लिए वहां के धर्म, दर्शन, साहित्य, कला और समाज को परखना होता है। भारतीय संस्कृति के इन सभी अंगों में फूल का स्थान सर्वोपरि है। देवता की पूजा बिना फूल के नहीं सजती। मंदिर की शीर्ष-कलश फूल के आकार का होता है। बहुमूल्य रत्नों से खेलने वाले राजा दुष्यंत, वल्कल में लिपटी फूलों से सुसज्जित शकुंतला पर मुग्ध हो जाते हैं। नायिकाओं में सर्वश्रेष्ठ है—पद्मिनी। सुहाग की सेज फूलों से सजाई जाती है। बालों में फूलों की वेणी सुहाग का लक्षण है। दूसरी ओर बांस का फूल अकाल की सूचना देता है। मनुष्यों का गुण विभाजन भी वनस्पति के आधार पर किया जाता है। राम लंकाकांड में रावण को समझाते हैं :

"जग यह विविध पुरुषपरम
पाटल रसाल पनस सम।
एक सुमन प्रद, एक सुमन फल, एक फलै केवल लागही
एक कहहिं करहिं न, कहहिं करहिं, एक करहिं कहत न बागहीं॥"

साहित्य और पुष्पों की चर्चा, बिना कालिदास का स्मरण किए अधूरी है।

मालविकाग्निमित्र के अनुसार, अनिद्य सुन्दरी अपने चरणों से वृक्षतल में आघात करती थी और अशोक पर लाल-लाल फूलों के गुच्छे उग आते थे। नर-नारी सभी घुटनों तक लम्बी फूलमालाएं पहनते थे। स्त्रियां केसर के फूलों की तगड़ी पहनती थीं। शिरीष और कर्णिकार को कानों में झुलाती। काले बालों में सफेद कुन्द और मन्दार के फूल सजाती। कुरबक को चोटियों में गूंथती और लीला-कमल हाथ में लिए क्रीड़ा करती। कालिदास का ऋतु-वर्णन ऋतु विशेष के फूलों के वर्णन से सुरभित है।

कालिदास से पहले और कालिदास के बाद कौन-सा ऐसा कवि या साहित्य-कार है जो फूलों की गलियों में भौंरे-सा न भरमाया हो! यदि साहित्य और फूल के नाते की चर्चा करने लगें तो हजार सफ़ों की कथा तैयार हो जाएगी। साहित्य-चर्चा छोड़ यहां एक माझी का गीत याद आता है जो भोजपुरी में कुछ यह भाव व्यक्त करता है, 'गंगा मैया, मेरी नाव तुम्हारे शृंगार के हार-फूलों से बोझिल है, जवा-कुसुम और कनेर से लदी है, तुम्हें सात प्रणाम चढ़ाने के लिए केले के पत्तों पर शेफाली के फूलों से भरी है। ओ मां, इसे धीमे-धीमे निर्भय चलने का आशीर्वाद दो।''

याद आते हैं वे विवाह-गीत जिनमें बालिका वधू अकुलाकर कहती है, 'हाथ कंगेरी फूलों की, ओ बाबा, मैं मालन बनकर जाऊं। रंगीले आ उतरे बागों में।''

एक प्रश्न मन में आता है। प्राचीन और ग्रामीण भारत की तो बात हुई, लेकिन क्या हमारा आधुनिक शहरी जीवन फूलों से रहित हो गया है? कहां? भला ऐसा हो सकता है? साड़ियों पर नन्हे नन्हे फूलों के बेल-बूटे छपे। किनारों पर इस तरह लताएं उग रही हैं, जैसे प्राचीन भोजपत्रों की पांडुलिपियों पर गिल-हरी की पूंछ के बालों का ब्रश बनाकर चित्रित की जाती थीं। कमरे की दीवारों पर अजंता के चित्रों की अनुकृतियां हैं जिनमें फूलों का जबरदस्त छिड़काव है। आभूषणों में कलियां उभर रही हैं। माथे पर फूल के आकार की बिंदियां हैं। फुलकारी, मेहंदी की सजावट चारों ओर है।

बालों में चमेली का तेल, मिठाइयों में गुलाब-जल महकता है। न जाने कितनी फूलों से प्राप्त दवाएं। त्योहारों पर रची अल्पनाएं—सभी तो आधुनिक जीवन का अंग हैं। उपहार की सबसे प्यारी वस्तु है—फूलों का गुलदस्ता। ठीक है कि आज छोटे-छोटे फ्लैटों में मोतिया और गुलाब का महकता बगीचा नहीं लग पाता। लेकिन खिड़की में रखे कैक्टस के तीखे कांटों के बीच लाल लाल कलियां उग आती हैं। कांक्रीट के रेगिस्तान में बहार का कायदा उतर आता है। हमारा आपका हर छुट्टी का दिन फूलों के बीच पिकनिक मनाने भागता है। हम बीसवीं सदी में रहें या इक्कीसवीं में पहुंच जाएं। 'वराह पुराण' के मुनि के साथ यही कहेंगे

एक जादू : एक कला- हसते आंसू

कला जीवन का अनुकरण, साहित्य समाज का दर्पण, चित्र मन का प्रतिबिम्ब—ये तमाम बातें बचपन में सीखते-पढ़ते इंसान बड़ा हो जाता है। इन बड़े-बड़े तथ्यों की अहमियत सोचते-समझते कुछ और नई बातें उसके हाथ लग जाया करती हैं। जिन्दगी को बूझने-परखने से कला का भी एक नया आयाम उसके आगे खुला है। देखा यह गया है कि कला वह है जो जिन्दगी से एक कदम आगे बढ़कर होती है। जो जिन्दगी को उसकी लगी-बंधी पटरी से उतारकर हरे-भरे खेतों में ले जाती है। उसकी हमवार और उबाने वाली मशीनी गति में भी संगीत पैदा कर सकती है। साधारण मनुष्य के लिए कला की यह उपयोगिता ही सबसे बड़ी, सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे प्यारी उपयोगिता है। जीवन तो अच्छे खास हँसते चेहरों को रुआंसा बनाया करता है लेकिन कला, रोती आंखों में खुशी की चमक पैदा कर देती है। किसी सामान्य नागरिक से पूछें—वह संगीत क्यों सुनता है, उपन्यास क्यों पढ़ता है, सिनेमा देखने क्यों जाता है? क्या इसलिए कि वह अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी का खाका उन सब में उतरता हुआ देख सके? अपने कष्टों को बार बार याद करता हुआ फिर फिर दिल दिमाग में तकलीफ की सुइयां चुभती महसूस कर सके? कतई नहीं। वह जाता है इनकी शरण में ताकि उन मुसीबतों से वह छुटकारा पा सके—संगीत-लहरी में इस तरह डूब जाए कि तकलीफों का तूफान उसे बिना छुए सिर के ऊपर से गुजर जाए, उपन्यास के पात्र उसे अपनी दुनिया में ले जाकर वास्तविकता के धक्कों से सुरक्षित कर लें। चित्रपट पर वह अपने सपनों को साकार होता देख ले—जो वह जीवन में पा नहीं सका, उसके रंगीन चित्रों से मन-प्राण भर ले। एक अदना इंसान के लिए ऐसी कला सचमुच वरदान है।

बात इतनी-सी है—रोना, हँसना और इन दोनों के सम्मिश्रण से कला की उत्पत्ति। रोना और हँसना तो सभी जानते हैं—उनकी व्याख्या की जरूरत

नही। रह गया शब्द—कला। सो सुनन मे छोटा होते हुए भी यह शरारती है—प्यार म कहा जा सकता है कि मोटा है। आज के उलटा-पलटी के युग म इसका सचमुच खोटे सिक्के की तरह भी इस्तेमाल किया जा रहा है। अक्सर सुनने म आता है—चोरी की कला मे माहिर है, झूठ की कला का उस्ताद, काले को सफेद और सफेद को काला करन की कला, धोखा-धडी की कला म पारगत। जीवन-सिद्धातो के इस अवमूल्यन म शायद हसते को रुलाना भी, कल, कला म गिना जाने लगेगा। खैर, कल क्या होगा, इसकी चिन्ता अभी से न करके आज सुधार लिया जाए तो वही काफी है। बुद्धिमानो की नसीहत है कि जो अपने 'आज' को सुधारता है, उसका अगला पिछला 'कल' स्वय सुधरता-सवरता चला जाता है। अभी तो हम रोते को हसाना ही कला मानते हैं।

बात बच्चे के जन्म से उठाई जाए। शिशु दुनिया म कदम रखत ही पहला काम करता है—रोना। और मा का पहला काम होता है, उसे अक म भरकर प्यार से छाती स लगा लेना—उसके रोने को मुस्कान म बदल देना। इसके अर्थ हुए कि इस कला की प्रथम गुरु है—मा। किसी भी मा को ले लीजिए—अपनी मा को या स्वय अपने भीतर छुपी बैठी वात्सल्यमयी जननी को—उसके जीवन का सबसे बडा उद्देश्य है अपने बच्चे का सुख, उसकी खुशी। उसके आसुओ को अपनी झोली म समेटकर वह बच्चे के होठो पर हसी देखना चाहती है। कुछ आसू जरूरतो को पूरा करके पोछे जा सकते हैं—भूख म दूध पिलाकर और कष्ट म दवा लगा-कर, लेकिन बहुत-स आसुओ को पोछने के लिए बहलाने-फुसलान का सहारा लेना पडता है। 'अरे, चोट लग गई। ले, मैं जमीन को मारती हू। बडी गदी है।' या फिर मा बच्चे के दुख के सामने दूसरे के दुख को बडा करके रखती है। 'न बेटा, रोते नही। देख-देख, चीटी मर गई—उसकी मा रो रही है।' एक अजीब ढग से दिया हुआ सहानुभूति का सुन्दर पाठ, जो जीवन भर काम आता है। दूसरे के बडे दुख के सामन अपन दुख को छोटा कर लेना। दुख को दुख ही न मानना।

इसान, जैस जैसे बडा होता है, उसकी यह कला भी खराद पर चढती जाती है। यह और महीन और कारगर होती जाती है। बडा को या फुसलाया नही जा सकता, इसलिए मनुष्य अनुभव स कुछ नये नियम गढता है। मौजूदा दुख के सामने भविष्य के सुख की कल्पना का मरहम उन्हीम स एक है। 'हर बुराई के पीछे भी कोई भलाई छिपी है'—यह मान्यता इसी निमित्त स बनाई गई है। इसमे दुखी व्यक्ति की उदासी आशा म बदल देने का प्रयास है। बात ठीक भी है। हर भाषा म हम इस आशय के मुहावरे मिल जात हैं। 'ऐवरी डार्क क्लाउड हैज ए सिल्वर लाईनिग'—इसम भी दुख के पीछे छिपे सुख—काले बादल के पीछे छिपी रोशनी का आभास है। कोई भी रात इतनी काली नही होती कि उसका सवेरा न हो। जीवन परिवर्तनशील है। आज दुख है तो कल खुशी भी आएगी। कलाविद्

वह है, जो इन बातों को दूसरे के मन म गहराई से उतार सके। लोग इस काम को अकसर अपने निजी उदाहरण देकर किया करते हैं—'बेटी का रिश्ता टूट गया, उस समय बडी जिल्लत उठानी पडी। शादी के कार्ड छप चुके थे, मेहमान आने शुरू हो गए थे। ऐसे समय शादी का टूटना ऐसा था, जैसे कहर टूट पडा हो, लेकिन ऐसे पैसे के लोभियो के यहा बेटी जाकर क्या सुख उठाती ? उन लोगों को गुण नही—माल चाहिए था। अब लडकी उतने मालदार घर म नही गई लेकिन सुखी तो है।' आपबीती सुनाने मे एक बहुत बडा खतरा है जिसकी ओर से अक्सर लोग सावधान नही रहते। अमूमन यह देखने मे आता है कि सभीके पास कहने को इतना कुछ है कि दूसरे की सुनने की ताव उसम नही रह जाती। नतीजा यह होता है कि जिसका मन हल्का करने की कोशिश हो रही है, वह तो चुप बैठा रहता है, दूसरा व्यक्ति अपनी रागिनी अलापता चला जाता है।

एक घटना याद आती है। किसीका आपरेशन हुआ था। हम लोग उन्हे देखने गए। वहा एक सज्जन पहले से जम बैठे थे और बडे विस्तार से मरीज को अपने किसी आपरेशन की गाथा सुना रहे थे। पूरी कथा की तर्ज यह थी कि 'आप का छोटा-सा आपरेशन है, तकलीफ तो मैंने सही थी। आपके म दो डाक्टर थे, मेरे मे चार, आपके मे तो आधा ही घटा लगा, मेरे साथ तीन घटे तक डाक्टर और नर्स जूझे। मुझे छ महीने तक अस्पताल के दर्शन करने जाना पडता था। मुझे दर्जनो बोतलें ग्लूकोज चढाया गया' ' मैं, मैं, मैं। बेचारा बीमार तो पीछे छूट गया, तीमारदार बाजी मार ले गया। गोया बीमारी न हो, घुडदौड का मैदान हो। गर्ज यह कि जब वे सज्जन उठकर गए, मरीज को और दर्दों के साथ सिरदर्द भी दे गए। ऐसे आसू पोछने वालो से खुदा बचाए !

बहुत बोलना अपने आपमे एक मर्ज है। इस रोग के रोगी आजकल बढते ही जा रहे है। दूसरी ओर दुनिया के बडे बडे चिकित्सा-विशेषज्ञो का कहना है कि अगर इसान बोलने की जगह सुनने पर अधिक बल देने लगे तो दिल दिमाग की बीमारियो का प्रतिशत आधा रह जाए। यानी अच्छा होना भी रोग मुक्त रहने का एक उपाय बन सकता है। वैसे, रोग की दृष्टि से सुनना और बोलना दोनो अपनी अपनी जगह महत्त्वपूर्ण है। बोलकर मन हल्का करने का उपाय चच के 'कन्फेशनल' स लेकर मनोचिकित्सक के काउच तक एक-सा काम करता है। मनोचिकित्सा का प्रमुख आधार यही है कि रोगी अपना रोग बयान करता चला जाए, जो मन म आए, बोलता चला जाए और मनोचिकित्सक मनोयोग स उसकी सुनता चला जाए। मन की कह लेने स उबाल निकल आता है भीतर बनी गाठें सुलझकर [illegible]ल जाती हैं। रोते को हसाने की इससे आसान, सहज और कम कष्टप्रद तरकीब और क्या हो सकती है कि हम सहृदय श्रोता हो जाए और अपने मित्र को दुख से बोझिल माथा टिकाने के लिए अपना कधा और आसू

पोछने के लिए अपना रूमाल चुपचाप बढ़ा दें।

रोते बच्चे को चुपाने का एक उपाय हुआ करता है—कहानी सुनाना। यानी ध्यान उस तरफ ले जाना, जिसमें उसकी रुचि है। लेकिन यही सिद्धांत बुढ़ापे तक काम करता है। जिस विषय में मन रमता है, दुखी व्यक्ति के ध्यान को उस तरफ मोड़ दिया जाए तो अनायास ही आंसू सूखने लगते हैं, आंखों में चमक आने लगती है, और उचाटपन कम हो जाता है।

दुख भंवर की तरह होता है। एक बार इसकी गिरफ्त में आ गए तो निकलना मुश्किल हो जाता है। चक्कर-पर-चक्कर उठते हैं और मन बीच में गहरे और गहरे डूबता चला जाता है। जी करता है, अकेले रहें, किसीसे कुछ न कहें लेकिन यह अकेलापन दुख को और दूना करता है। जिस तरह भंवर से स्वयं निकलना असंभव है, उसी तरह दुख की गहराइयों में डूबे हुए को एक मददगार बांह की जरूरत होती है। हमदर्द मददगार की, नसीहतें देनेवाले की नहीं, लानत-मलामत करनेवाले की नहीं और न ही यह कहकर जले पर नमक छिड़कने वाले की कि 'हमने तो पहले ही कह दिया था। हमारी बात मानी होती तो यह नौबत ही क्यों आती।' गालिब का शे'र है

"ये कहां की दोस्ती है कि बने हैं दोस्त नासेह
कोई चारासाज होता, कोई गमगुसार होता।"

परेशानी में यह विश्वास कि कोई दूसरा भी है जो हमारे दुख से दुखी होता है, हमारी परवाह करता है, हमें खुश देखना चाहता है—बहुत बड़ा वरदान सिद्ध होता है। यह विश्वास झूठमूठ दिलाया भी नहीं जा सकता। बुरा समय इसीलिए तो खोटे की पहचान की कसौटी बनकर आता है। मनुष्य आपदा पड़ने पर मित्रों ही के सहारे की खोज करता है और सच्चे मित्र भी सुख-आराम में भले ही उदासीन रह लें, मुसीबत में भागे चले आते हैं।

यह भी सच है कि 'यू लाफ एंड दि वर्ल्ड लाफ्स विद यू, यू वीप एण्ड यू वीप एलोन।' खुशी सब बांटना चाहते हैं—दर्द बांटने कौन आता है? माना कि यह जिन्दगी की कड़वी सच्चाई है लेकिन यही हमें सहृदय बनना भी सिखाती है। अगर हमें आंसू पोंछने वाले की जरूरत है तो दूसरे के आंसू पोंछने को आंचल बढ़ाना भी जरूरी है।

यों तो आंसू आंखों में छलकते हैं लेकिन ऐसे भी अनेक आंसू होते हैं जो पलकों तक नहीं आते लेकिन भीतर ही-भीतर उनकी झड़ी लगी रहती है। अपनी स्वयं की दुर्बलताएं, कुरूपता, कमी, व्यक्तिगत कष्ट ऊपरी तह के नीचे छिपे कांटे की तरह कसकते रहते हैं। जो आंखें इन्हें देख पाती हैं वे सच्चे मानवतावादी कलाकार की आंखें हैं। इकहरे बदन की सांवली लड़की की टीस वह स्वयं ही जान सकती है। अचानक कोई उसकी सुन्दर, चमकीली आंखों की प्रशंसा करके उसमें

मौन आसुओ को सुख के मोतियों मे बदल सकता है। थकी-मादी गृहिणी की चुप उदासी पति के सहानुभूति-भरे प्यार के एक अक्षर मे यो वह जाती है जैसे सूरज की एक किरण मे पहाडो पर जमी बर्फ। अपने प्रियजनो के सारे कष्टो को कोई अपने ऊपर नही ले सकता। बेटे हुमायू की मृत्यु अपने पर झेल लेने वाले बाबर तो हम सब नही हो सकते। वह न स्वाभाविक है न व्यावहारिक, लेकिन हारे-थके कदमो के साथ चार कदम मिलाकर चल जरूर सकते हैं। उसीसे उनमे इतना उत्साह जाग उठेगा कि वे बाकी राह खुशी खुशी अकेले पूरी कर लेंगे। कुछ लोग इतने खुशमिजाज और हसमुख होते हैं कि उनके इर्द-गिर्द कोई उदास रह ही नही सकता—वे पत्थर को भी हसाने की ताकत रखते हैं। इस कला का उस्ताद वही हो सकता है जो स्वय के बारे म कम, दूसरे के बारे मे ज्यादा सोचता है, जिसके मानसिक परिवार म सबधियो की गिनती अनगिनत होती है जो मानवीय सबधो को, 'देने और पाने' की तराजू पर तोलता नही रहता।

सिक्का : खोटा या खरा

अगर पैसा सचमुच हाथ का मैल होता तो कोयला-खान म काम करने वाला सबसे ज्यादा पैसे वाला हुआ करता। परन्तु पैसे वाला होता है हीरो मे खेलने वाला। यो, हीरा भी कोयले की सतान है लेकिन जैसे कोयल के घोसले मे गेग जाने से कौवे का बच्चा मीठा गाना नही सीख लेता, उसी तरह भूमि के एक ही गर्भ मे निकलने पर कोयला और हीरा एक-से मूल्यवान् नही हो जाते।

आजकल आमतौर पर यह माना जाने लगा है कि पैसे से सब कुछ खरीदा जा सकता है—आलीशान बगला, गाडी, बढ़िया कपडे, बच्चो के लिए पब्लिक स्कूल, ऊची विदेशी शिक्षा। इन्ही सबके चलते पैसा आज सम्मान का पर्याय बन गया है। जो धनी है, वही मानी है। ऊची दुकान होनी चाहिए—फीके पकवान होने पर भी ग्राहको की भीड लगी ही रहती है। रोशनी और पटाखे अपने धनवान होने के वे झडे हैं जो अमीर अपने दरवाजो पर धमाके के साथ गाडकर रखते हैं। उन्हें देख देखकर गरीब अपनी किस्मत को कोसते हैं और अपने बिना छप्पर के मकानो मे तेल का मुह ताकती टिमटिमाती ढिबरी बढाकर सो जाते है। लेकिन तमाशा तब होता है जब ठडे वातानुकूलित कमरो मे मोटे गद्दो पर भी अनिद्रा मे करवटें बदलने वाले उनकी किस्मत पर रश्क करते है जो फुटपाथो पर पैर पसारकर गहरी नीद मे बेखबर सोए पडे हैं। सूफी सतो ने कहा था कि अपनी जेबें खाली करके उलट दो और चैन की बसी बजाओ। लक्ष्मी के पैरो के निशानो पर ही चलकर चोर घर मे आता है। न लक्ष्मी को घर मे बुलाओ और न चोर को न्यौता दो। जब चोरी का डर नही रहा तो अनिद्रा भी मिट गई। यह तो बात है सतो की। साधारण आदमी क्या करे ? बिना पैसे के जिन्दगी की गाडी खीचती भी तो नही। न हवा-पानी से पेट भरा जा सकता है और न प्यार-मुहब्बत को ओढा-बिछाया जा सकता है। सिर पर छत न हो तो मन मे शाति की उम्मीद कैसे की

मौन आमुओं को सुख के मोतियों मे बदल सकता है। थकी मादी गृहिणी की चुप उदासी पति के सहानुभूति-भरे प्यार के एक अक्षर से यों वह जाती है जैसे सूरज की एक किरण से पहाड़ा पर जमी वर्फ। अपने प्रियजनों के सारे कष्टों को कोई अपने ऊपर नही ले सकता। बेटे हुमायू की मृत्यु अपने पर झेल लेन वाले बाबर तो हम सब नहीं हो सकते। वह न स्वाभाविक है न व्यावहारिक, लेकिन हारे-थके कदमो के साथ चार कदम मिलाकर चल जरूर सकते हैं। उसीम उनमे इतना उत्साह जाग उठेगा कि वे बाकी राह खुशी खुशी अकेले पूरी कर लेंगे। कुछ लोग इतने खुशमिजाज और हसमुख होते हैं कि उनके इर्द-गिर्द कोई उदास रह ही नहीं सकता—वे पत्थर को भी हसाने की ताकत रखते है। इस कला का उस्ताद वही हो सकता है जो स्वय के बारे म कम दूसरे के बारे मे ज्यादा सोचता है, जिसके मानसिक परिवार मे सबधियो की गिनती अनगिनत होती है जो मानवीय सबधो को, 'देने और पाने' की तराजू पर तोलता नही रहता।

सिक्का : खोटा या खरा

अगर पैसा सचमुच हाथ का मैल होता तो कोयला खान में काम करने वाला सबसे ज्यादा पैसे वाला हुआ करता। परन्तु पैसे वाला होता है हीरों से खेलने वाला। यों, हीरा भी कोयले की सतान है लेकिन जैसे कोयल के घोसले में सेए जाने से कौवे का बच्चा मीठा गाना नहीं सीख लेता, उसी तरह भूमि के एक ही गर्भ से निकलने पर कोयला और हीरा एक-से मूल्यवान् नहीं हो जाते।

आजकल आमतौर पर यह माना जाने लगा है कि पैसे से सब कुछ खरीदा जा सकता है—आलीशान बगला, गाड़ी, बढ़िया कपड़े, बच्चों के लिए पब्लिक स्कूल, ऊची विदेशी शिक्षा। इन्ही सबके चलते पैसा आज सम्मान का पर्याय बन गया है। जो धनी है, वही मानी है। ऊची दुकान होनी चाहिए—फीके पकवान होने पर भी ग्राहकों की भीड़ लगी ही रहती है। रोशनी और पटाखे अपने धनवान होने के वे झडे हैं जो अमीर अपने दरवाजों पर धमाके के साथ गाड़कर रखते हैं। उन्हें देख-देखकर गरीब अपनी किस्मत को कोसते हैं और अपने बिना छप्पर के मकानों मे तेल का मुह ताकती टिमटिमाती ढिबरी बढाकर सो जाते है। लेकिन तमाशा तब होता है जब ठडे वातानुकूलित कमरों में मोटे गद्दों पर भी अनिद्रा में करवटें बदलने वाले उनकी किस्मत पर रश्क करते हैं जो फुटपाथों पर पैर पसारकर गहरी नींद में बेखबर सोए पड़े हैं। सूफी सतो ने कहा था कि अपनी जेबें खाली करके उलट दो और चैन की बसी बजाओ। लक्ष्मी के पैरों के निशानों पर ही चलकर चोर घर में आता है। न लक्ष्मी को घर में बुलाओ और न चोर को न्योता दो। जब चोरी का डर नही रहा तो अनिद्रा भी मिट गई। यह तो बात है सतो की। साधारण आदमी क्या करे ? बिना पैसे के जिन्दगी की गाड़ी खीचती भी तो नहीं। न हवा-पानी से पेट भरा जा सकता है और न प्यार-मुहब्बत को ओढा-बिछाया जा सकता है। सिर पर छत न हो तो मन में शांति की उम्मीद कैसे की

जाए ? (वास्तव में अपनी बिलकुल अहम जरूरतों को पूरा कर सकने की सामर्थ्य भर पैसा नहीं कहला सकती। पैसा वह है जो आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद जेब में बचा रहता है। जो पर्स में पड़ा पड़ा कुनमुनाता रहता है और हमें बाजार की रंगीनियों की तरफ यों खींचता है, जैसे लोहे को चुम्बक।) देखना यह है कि अंगारे की तरह जेब जलाता, मचलता यह सिक्का पास हो तो मुसीबत, या पास न हो तो मुसीबत ?

किन्तु इसके पहले यह देख लें कि इंसान की अहम् जरूरतें होती क्या-क्या हैं ? क्या हम इन्हें इतना सिकोड सकते हैं कि एक धोने और दूसरी पहनने वाली दो धोतियों में यह सिमट जाए ? क्या यह नमक और प्याज से रोटी खा लेने से पूरी हो जाती है ? क्या अपना नाम लिख लेना भर आ जाने से शिक्षित होने की आवश्यक शर्त मिट जाती है ? यदि इसे अतिवादी दृष्टिकोण मान लिया जाए, तो भी इसका निर्णय कौन करेगा कि बच्चों को एक समय दूध मिलना नितांत आवश्यक है या दो बार ? थका-मांदा शरीर लिए, बस के स्थान पर स्कूटर-रिक्शा करके घर चले आना क्या अमीरी है ? दिन-भर हाड़-तोड़ मेहनत करने वाला मजदूर अगर शाम को मनचाही फिल्म देखने के लिए ऊंचे दर्जे का टिकट खरीद डालता है तो क्या फिजूलखर्ची कर रहा है ? हरेक की जरूरत काफी हद तक खुद उसकी जिन्दगी के ढर्रे पर निर्भर करती है। एक प्रोफेसर के लिए पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों पर पैसा लगाना उसकी जरूरत है। एक किसान के लिए यही काम पैसा फेंकने के बराबर हो सकता है। उसके खेतों की जरूरत है पानी इसलिए वह दुगुना खर्च करके ट्यूबवेल लगवाएगा। आवश्यकता की सीमा कहां खत्म होती है और समृद्धि या आरामतलबी की कहां शुरू होती है—बताना बहुत कठिन है। इसी-लिए यह भी बता सकना असंभव है कि किस मात्रा में पैसा सुख देगा और किस मात्रा में दुख। निर्धन और धनी में तो भेद किया जा सकता है लेकिन कब मध्य-वर्ग उच्च मध्यवर्ग बन जाता है और कब वह धनीवर्ग की सीढ़ी पर कदम रख देता है, पता ही नहीं चलता।

इससे कोई इंकार नहीं कर सकता कि निन्यानवे का फेर ऐसा है कि जो इस भंवर में पड़ा—डूबकर ही रहा। एक इच्छा सौ इच्छाओं को जन्म देती है और पैसे की लालसा भी एक कभी न भरने वाला घर है। वैभव-वृद्धि की मंजिल क्षितिज की तरह कभी हाथ न आने वाली मंजिल है। धन एक नशा है—एक ऐसी प्यास जो पीने से और भड़कती है। यह इंसान पर इस तरह हावी हो जाती है कि तमाम सोच-विचार, विवेक-बुद्धि बुरा और भला इसकी भेंट चढ़ जाते हैं। मनुष्यता के सारे मूल्य धन के ब्रह्म-राक्षस के जबड़ों में पिस जाते हैं। पैसे वाले को एक ही चिन्ता रात दिन नचाती है—मैं और पैसा कैसे पैदा करूं ? इससे पल-भर छुट्टी पाता है, तो परेशान रहता है कि इस अर्जित खजाने की रक्षा कैसे करूं ?

इसी मोड पर आकर वह जीवन का सबसे बडा धन खो बैठता है। व्यक्ति का व्यक्ति से सबध टूट जाता है। धन पारस्परिक सबधों मे दीवार बनकर खडा हो जाता है। आपस मे प्यार का व्यवहार समाप्त हो जाता है। खरीद-फरोख्त का आलम आ उतरता है। जमीन-जायदाद को लेकर भाई-भाई मे फूट पडती है। जेवर-पत्ते के कारण बहुएं एक-दूसरे की जान की दुश्मन हो जाती हैं। यहा तक कि बाप-बेटे मे भी अविश्वास की खाई खुद जाती है। कर्ज लेकर मुह चुराना तो ससार की रीत है, लेकिन किसीकी नि स्वार्थ सहायता पाकर भी अक्सर दात-काटी दोस्ती का रिश्ता पलट जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि देने वाला दाता और लेने वाला भिखारी की मानसिकता के शिकार हो जाते हैं। देने वाला अपना ऊचा हाथ न भी जताए तो भी लेने वाला हीनता के बोध से नही बच पाता और अपने सहायक के सामने पडने से कतराने लगता है। मजे की बात यह है कि यह स्थिति आर्थिक सहायता के समय ही अधिक दिखाई देती है। विद्या का दान, सेवा, वक्त जरूरत मे की गई दूसरे की भाग-दौड या सही सलाह-मशवरा हमे दूसरो के प्रति अनुगृहीत ही करता है और स्नेह के बधन को और मजबूत बनाता है।

धनी को हमेशा यह महसूस होता है कि उसकी ओर आकर्षित होने वाला हर व्यक्ति उसमे आकर्षित नही हो रहा, उसके धन से उसकी ओर खिंच रहा है। यह स्थिति न धनवान के लिए अच्छी है और न उसे चाहने वाले के लिए गौरव-प्रद। इसमे दोनों ही का व्यक्तित्व धन के सामने ओछा पड जाता है। न जाने ससार की कितनी ऐश्वर्यशाली सिने तारिकाओ के जीवन को पैसा विषधर की तरह अकेला कर गया है। किसीके पास आते ही वह सदेह की फुकार छोडने लगता है। तभी तो मित्र, पति और बाल-बच्चेसे भरा पूरा सुखमय ससार, जो हर किसी साधारण स्त्री को उपलब्ध है—अकसर उन्हे नही मिल पाता।

पैसा एक ऐसा चश्मा है जिसे चढा लेने पर दुनिया के रग बदल जाते है। इन रगो को गहरा करने मे मदद देते है वे चाटुकार जो हर धनवान के आसपास मड-राते रहते है। इनके साथ-साथ जीवन मे प्रवेश करता है घमड, जो बोलने-चालने, उठने बैठने—हर चीज मे खुद-ब-खुद झलकने लगता है। फालतू पैसे के साथ खिंच-कर आते हैं कुछ फालतू शौक। रेस के घोडे दौडाना, सुरा और सुन्दरी मे खुद को डुबोना और आखिरकार होता यह है कि सुख पाने का साधन पैसा उसके सुखो को ही घूट-घूट पी डालता है—इसान को खाली कर देता है।

तो फिर क्या मान लें कि पैसा मुसीबत है? लेकिन कहा? पैसा दूर ले जाता है तो पास भी तो लाता है! अपने प्रियजनो को अपना प्यार जताने के लिए पैसा प्रतीक का काम करता है। किसका मन नहीं करता कि वह अपनो के लिए ससार की सारी सुख सपदा इकट्ठी कर दे? इस भावना मे कहा दोष है—कौन सा स्वार्थ है और कैसा घमड है? धन का नि स्वार्थ प्रयोग भी हमारे चारो ओर

मौजूद है। बडी-बडी अनुसधानशालाए, विश्वविद्यालय, भव्य कलावीथिया, म दिर, मसजिद, अनेकानेक छोटे-बडे पुरस्कार, प्रोत्साहन और छात्रवृत्तिया बिना इसके सभव नही थी। ससार म न जाने कितने अस्पताल है जो किसी दूसरे के पैस से खडे हुए थे और न जाने कब तक असख्य रोगियो का मुफ्त इलाज करते चले जाएगे।

एक अत्तन्त सामान्य पारिवारिक उदाहरण लें—घर मे तनाव का वातावरण। जहा चार लोग रहेगे, वहा मनमुटाव भी होगे ही। माहौल कुछ ऐसा बोझिल हो गया है कि उसे हलका करने का कोई उपाय काम नही कर रहा। हर कोई दूसरे पर अपनी झल्लाहट निकाल रहा है। शाम को गृहस्वामी आफिस से लौटे तो बोले, 'सब लोग जल्दी से तैयार हो जाओ। रसोई बद करो। मैंने सिनेमा के टिकट मगा लिए है। सब पिक्चर चलेंगे—उसके बाद बाहर खाना खाएगे।" टिकट आ चुके थे, इसलिए हा ना की गुजाइश ही नही थी। सब निकल पडे। जब खा पीकर रात को लौटे तब तक सबकी झुझलाहट पिघल चुकी थी। सबने एकसाथ आनन्द उठाया था और सबकी विभिन्न मन स्थितिया जिस एक वातावरण म पडी पडी घुल रही थीं, उसमे उबरकर फिर स्वस्थ और सहज हो गई थी। इस सबका श्रेय गया गृहस्वामी को। दूरदर्शी, सूझ बूझ और साथ ही उनकी इस आर्थिक क्षमता को कि वे परिवार की हसी खुशी लौटाने के लिए खुले दिल से खर्च कर सके।

धन का अभाव किस तरह जिन्दगी मे घुन लगा सकता है यह शायद बताने की जरूरत नही। कौन ऐसा है जो कह सके कि उसने जीवन की दो चार रातें खर्च का जोड तोड करते नही गुजारी हैं जिसके घर मे पैसे की कमी को लेकर कभी अशाति और चिन्ता नही व्यापी है? सच तो यह है कि हमम से अधिकाश अपना अधिकतर समय इसी तरह की उधेडबुन मे बिताते हैं। 'तेल पाव पसारिए जेती लबी सौर की सीख तो हमने पाई है, लेकिन जीवन मे अक्सर पाव और चादर की लबाई का ब्यौंत बैठ ही नही पाता।

और तभी हम सुनते है—पढते है उनके बारे म, जिन्होने हजारो आर्थिक कठिनाइया झेली। लेकिन फिर भी तूफान मे मशाल की तरह जलते रहे। बल्कि एक विशाल ज्योति बन गए, जिसने हजारो का मार्ग रौशन किया। बात सही भी है और प्रेरणादायक भी। लेकिन सबमे इतना जीवट हो पाना सभव है क्या? और फिर हमारे पास उन छोटे छोटे मिट्टी के दीयो का लेखा-जोखा और आकडे हैं ही कहा कि जो धन की कमी के झोको से बुझ गए। कितने होनहार भावी डाक्टर, इजीनियर, वैज्ञानिक, कलाकार, गरीबी ने निगल लिए होगे—इसका कोई हिसाब है? विश्वविख्यात चित्रकार पिकासो के पास जब कैनवस खरीदने के लिए पैसे न बचे तो उसने कमरे की दीवारो पर चित्रकारी कर डाली। मकान मालिक ने

नाराज होकर न सिर्फ पिकासो को बाहर निकाल दिया—उसका बचा-खुचा सामान भी जब्त कर लिया और उसीको बेचकर दीवारों पर चूना पुतवाने का खर्च निकाला। हर चीज मे भलाई देखने वालो को भले ही इस कहानी मे यह नजर आए कि इन्ही कठिनाइयो से जूझकर एक गरीब चित्रकार पिकासो बन सका। मुझे तो यही अफसोस होता है कि धनाभाव के कारण ससार ने उन बहु-मूल्य कृतियो को खो दिया जो दीवार पर चित्रित की गई थी।

याद आता है कि एक बार हमारे घर सब्जी एक ऐसे लिफाफे मे आई जो किसी हस्तलिखित पाण्डुलिपि से बनाया गया था। लेखक होने के नाते मन कई दिन बेचैन रहा, यह सोच-सोचकर कि न जाने किसने कितनी बडी मजबूरी मे अपनी रचनाए कबाडी को रद्दी मे बेच डाली हैं। न पडे किसी पर यह मुसीबत कि अपना कोई सगा बीमार हो और जेब मे इलाज कराने के पैसे न हो। बच्चो को भरपेट भोजन खिला सकने की ताकत न रहे। पैसे की ऐसी कमी आए कि इसान होते जानवरो की जिन्दगी बसर करनी पडे।

—और न ही आए ऐसी बेशुमार दौलत कि अच्छा-भला आदमी इसान से हैवान बन जाए।

